जैनपरम्परा और यापनीयसंघ

(जैन संघों के इतिहास, साहित्य, सिद्धान्त और आचार की गवेषणा)

प्रथम खण्ड

दिगम्बर, श्वेताम्बर, यापनीय संघों का इतिहास

प्रो० (डॉ०) रतनचन्द्र जैन

पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष : संस्कृतविभाग
शा० हमीदिया स्नातकोत्तर महाविद्यालय
भोपाल, म.प्र.

पूर्व रीडर : प्राकृत
तुलनात्मक भाषा एवं संस्कृति विभाग
बरकतउल्ला विश्वविद्यालय
भोपाल, म.प्र.

सर्वोदय जैन विद्यापीठ, आगरा (उ.प्र.)

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

जैनपरम्परा और यापनीयसंघ

(जैन संघों के इतिहास, साहित्य, सिद्धान्त और आचार की गवेषणा)

प्रथम खण्ड

दिगम्बर, श्वेताम्बर, यापनीय संघों का इतिहास

प्रो० (डॉ०) रतनचन्द्र जैन

पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष : संस्कृतविभाग
शा० हमीदिया स्नातकोत्तर महाविद्यालय
भोपाल, म.प्र.

पूर्व रीडर : प्राकृत
तुलनात्मक भाषा एवं संस्कृति विभाग
बरकतउल्ला विश्वविद्यालय
भोपाल, म.प्र.

सर्वोदय जैन विद्यापीठ, आगरा (उ.प्र.)

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

ISBN 81 - 902788 - 0 - 0 (Set)
ISBN 81 - 902788 - 1 - 9 (Volume I)

सर्वोदय जैन विद्यापीठ ग्रन्थमाला : ग्रन्थाङ्क 1

जैनपरम्परा और यापनीयसंघ

प्रथम खण्ड

प्रो० (डॉ०) रतनचन्द्र जैन

प्रकाशक
सर्वोदय जैन विद्यापीठ
1/205, प्रोफेसर्स कॉलोनी
आगरा – 282002, उ०प्र०

लिप्यङ्कन : समता प्रेस, भोपाल

मुद्रक : **दीप प्रिण्टर्स**
70ए, रामा रोड, इंडस्ट्रियल एरिया, कीर्ति नगर, नई दिल्ली-110015
दूरभाष : 09871196002

प्रथम संस्करण : वी० नि० सं० 2535, ई० 2009
प्रतियाँ : 1000
मूल्य : 500 रुपये
सर्वाधिकार : प्रो० (डॉ०) रतनचन्द्र जैन

JAINA PARAMPARĀ AURA YĀPANĪYA SAṄGHA
Vol. I
By Prof. (Dr.) Ratana Chandra Jaina

Published by
Sarvodaya Jaina Vidyāpīṭha
1/205, Professors' Colony
AGRA — 282002, U.P.

First Edition : 1000
Price : Rs. 500
© : Prof. (Dr.) Ratana Chandra Jaina

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

समर्पण

ईसोत्तर २०वीं-२१वीं शती के अद्भुत, अद्वितीय,
अतिलोकप्रिय दिगम्बरजैन मुनि परमपूज्य
आचार्य श्री १०८ विद्यासागर जी महाराज को,

जिनकी

प्रगाढ़ आगमश्रद्धा, तलस्पर्शी आगमज्ञान एवं
आगमनिष्ठचर्या ने इस पंचमकाल में मुनिपद को
प्रामाणिकता और श्रद्धास्पदता प्रदान की है,

जिनके

अलौकिक आकर्षण के वशीभूत हो अनगिनत
युवा-युवतियाँ भोगपथ का परित्याग कर
योगपथ के पथिक बन गये और निरन्तर बन रहे हैं,

जिनकी

वात्सल्यमयी दृष्टि, अर्त्तिहारिणी मुस्कान एवं
हित-मित-प्रिय वचन दर्शनार्थियों को
आनन्द के सागर में डुबा देते हैं,

जिनके

वात्सल्यप्रसाद का पात्र में भी बना हूँ तथा जिन्होंने
अनेक शुभ उत्तरदायित्व आशीर्वाद में प्रदान कर
मेरे जीवन के अन्तिम चरण को धर्मध्यान-केन्द्रित
बना दिया।

नमोऽस्तु।

गुरुचरणानुरागी
रतनचन्द्र जैन

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

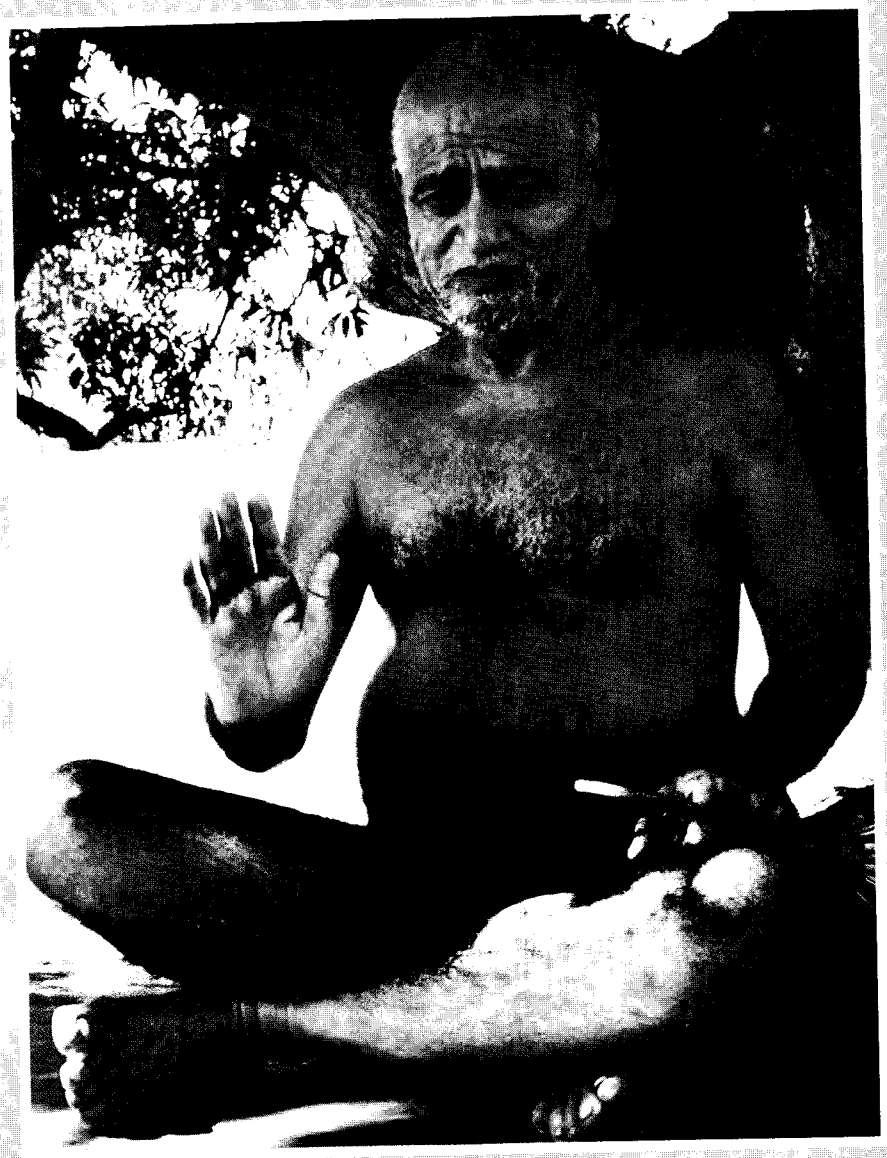

परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

अन्तस्तत्त्व

पृष्ठांक

- ☐ प्रकाशकीय — तेईस
- ☐ ग्रन्थकथा — उनतीस
- ☐ ग्रन्थसार — इक्यावन
- ☐ संकेताक्षर-विवरण — एक सौ इक्यासी

प्रथम खण्ड

दिगम्बर, श्वेताम्बर, यापनीय संघों का इतिहास

प्रथम अध्याय

काल्पनिक सामग्री से निर्मित तर्कप्रासाद

१. तीर्थंकरों के सवस्त्र-तीर्थोपदेशक होने की कल्पना ३
२. बोटिक शिवभूति के दिगम्बरमत-प्रवर्तक होने की कल्पना ३
३. बोटिक शिवभूति के यापनीयमतप्रवर्तक होने की कल्पना ३
४. कुन्दकुन्द के दिगम्बरमतप्रवर्तक होने की कल्पना ४
५. कुन्दकुन्द के प्रथमतः यापनीय होने की कल्पना ४
६. कुन्दकुन्द के प्रथमतः भट्टारक होने की कल्पना ४
७. उत्तरभारतीय सचेलाचेल निर्ग्रन्थसंघ की कल्पना ५
८. सचेलाचेल निर्ग्रन्थसंघ के विभाजन से श्वेताम्बर-यापनीय-सम्प्रदायों के उद्भव की कल्पना ५
९. अचेल एवं सचेल जिनकल्पों के व्युच्छेद की कल्पना ६
१०. सामान्यपुरुषों के लिए तीर्थंकरलिंग-ग्रहण के निषेध की कल्पना ६

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

११. अचेलत्व के मुख्य और औपचारिक भेदों की कल्पना ६
१२. सग्रन्थ में निर्ग्रन्थ की कल्पना ७
१३. मूलसंघ के यापनीयसंघ का पूर्वनाम होने की कल्पना ८
१४. कुन्दकुन्दसाहित्य में दार्शनिक विकास की कल्पना ९
१५. शिवमार में शिवकुमार की कल्पना ९
१६. अनेक दिगम्बरग्रन्थों के यापनीयग्रन्थ होने की कल्पना १०
१७. गुणस्थान-सिद्धान्त के विकास की कल्पना ११
१८. सप्तभंगी के विकास की कल्पना १२
१९. यापनीयों द्वारा अर्धमागधी-आगमों के शौरसेनीकरण की कल्पना १२
२०. दिगम्बरग्रन्थों में यापनीयमत-विरुद्ध कथनों के प्रक्षेप की कल्पना १३
२१. स्वाभीष्ट कल्पित-शब्दादि का आरोपण—
१. कल्पित शब्द, २. कल्पित अर्थ, ३. कल्पित लक्षण १३

द्वितीय अध्याय

काल्पनिक हेतुओं की कपोलकल्पितता का उद्घाटन

प्रथम प्रकरण—तीर्थंकरों का सवस्त्रतीर्थोपदेशकत्व प्रमाणविरुद्ध १७

☐ विरोधी प्रमाण १८

द्वितीय प्रकरण—शिवभूति यापनीयमत-दिगम्बरमत-प्रर्वतक नहीं २०

१. बोटिकमतोत्पत्तिकथा २१
२. बोटिकमतोत्पत्तिकथा का विस्तार से वर्णन २३
३. मुनि कल्याणविजय जी के मनगढ़न्त निष्कर्ष २८
४. श्वेताम्बर शिवभूति द्वारा दिगम्बरमत का वरण ३२
५. शिवभूति के तर्क एवं मान्यताएँ दिगम्बरमतानुगामी ३५
५.१. सचेललिंग का सर्वथा निषेध ३५
५.१.१. उपधिग्रहण परिग्रह है ३६
५.१.२. उपधिपरिग्रह से मूर्च्छादि अनेक दोष अवश्यंभावी ३७
५.२. जिनकल्प के नाम से एकमात्र अचेल जिनलिंग का समर्थन ३८

५.२.१. अचेल जिनकल्प से ही मोक्ष की प्राप्ति ३८
५.२.२. जिनेन्द्रगृहीत होने से अचेललिंग ही प्रामाणिक ३८
५.२.३. श्रुत में अचेलत्व का ही उपदेश ३९
५.३. श्वेताम्बरीय सचेल जिनकल्प का समर्थन नहीं ३९
५.४. सचेलकता के निषेध से स्त्रीमुक्ति का निषेध ४१
५.४.१. स्त्रीदीक्षा नहीं दी गई ४१
५.४.२. स्त्रीमुक्ति के लिए स्थान नहीं ४२
५.५. शिवभूति को श्वेताम्बरागम मान्य नहीं ४३
६. बोटिक और यापनीय परस्परविरुद्ध परम्पराएँ ४५
६.१. बोटिकमत और यापनीयमत में घोर वैषम्य ४५
६.२. श्वेताम्बरग्रन्थों में बोटिकों की निन्दा, यापनीयों की प्रशंसा ४५
६.३. प्राचीन श्वेताम्बरग्रन्थों में बोटिकों की 'दिगम्बर' संज्ञा ५०
□ मालवणिया जी का मत युक्ति-प्रमाणविरुद्ध ५१
६.४. आधुनिक श्वेताम्बर विद्वानों का मत : बोटिक-दिगम्बर एक ५७
६.५. श्वेताम्बरसाहित्य में बोटिकों की 'यापनीय' संज्ञा नहीं ५९
७. कुन्दकुन्द के प्रथमतः यापनीयमतावलम्बी होने का मत असत्य ६०
८. कुन्दकुन्द बोटिक शिवभूति से पूर्ववर्ती ६२
९. कुन्दकुन्द श्रुतकेवली भद्रबाहु के परम्परा-शिष्य ६२
१०. कुन्दकुन्द के दिगम्बरमत-प्रवर्तक होने का मत कपोलकल्पित ६४
□ दिगम्बरमत कुन्दकुन्द से पूर्ववर्ती ६४
१०.१. पाँचवी शती ई० के पूर्व निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघ का अस्तित्व ६४
१०.२. कुन्दकुन्द-प्ररूपित मार्ग जिनप्रणीत : आ० हस्तीमल जी ६६
१०.३. आगमोक्त सरलमार्ग का निषेध अमनोवैज्ञानिक ६७
१०.४. दक्षिण में दिगम्बरपरम्परा श्रुतकेवली भद्रबाहु से पूर्ववर्ती ६९
१०.५. शिवभूति द्वारा जिनेन्द्रगृहीत अचेललिंग का अंगीकार ७३
१०.६. श्वेताम्बरग्रन्थों में कुन्दकुन्द का उल्लेख नहीं ७४
१०.७. दिगम्बरसंघ भद्रबाहु की परम्परा का संघ : डॉ० सागरमल जी ७४
११. बोटिकसंघ की दक्षिणयात्रा अप्रामाणिक ७५
१२. 'मूलसंघ' यापनीयसंघ का पूर्वनाम नहीं ७६
१३. 'यापनीयसंघ' दिगम्बरसंघ का पूर्वनाम नहीं ७६
१४. परस्परविरोधी धराशायी होती कहानियाँ ७७

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

तृतीय प्रकरण—उत्तरभारतीय सचेलाचेल निर्ग्रन्थसंघ कपोलकल्पित ८०

१. अचेल-सचेल दोनों लिंगों से मुक्ति के उपदेश की कल्पना ८०

२. उक्त कपोलकल्पना द्वारा अनेक प्रयोजनों की सिद्धि का प्रयास ८३

३. कपोलकल्पित होने के शास्त्रीय प्रमाण ८४

३.१. भगवान् महावीर का निर्ग्रन्थसंघ सर्वथा अचेलमार्गी ८४

३.२. महावीरप्रणीत जिनकल्प-स्थविरकल्प दोनों सर्वथा अचेल ८५

३.३. श्वेताम्बरमान्य जिनकल्प और स्थविरकल्प दोनों सचेल ८६

३.३.१. जिनकल्पी भी सचेल और अनग्न ८६

३.३.२. श्वेताम्बर-जिनकल्पिकों का नग्न रहना असंभव ९१

३.३.३. श्वेताम्बर-जिनकल्पिकों का नग्नत्व औचित्यविहीन ९२

३.३.४. वस्त्रलब्धिमान् जिनकल्पिक नाममात्र से अचेल ९२

३.४. आचारांगवर्णित अचेलत्व अव्यवहृत ९३

३.५. जिनकल्प के व्युच्छेद की घोषणा ९४

३.६. आर्य महागिरि का जिनकल्प दिगम्बरपरम्परा का जिनलिंग ९६

३.७. सचेल जिनकल्प कपोलकल्पित ९८

३.८. अचेलत्व की 'जिनकल्प' संज्ञा स्वकल्पित ९९

३.९. जिनकल्प-नामकरण के प्रयोजन १०२

३.१०. जिनकल्प-नामकरण के प्रयोजन ही विच्छेद-घोषणा के प्रयोजन १०४

३.११. अचेलत्व के आचरण का विच्छेद नहीं, परित्याग १०६

□ निष्कर्ष १०६

४. कपोलकल्पित होने के ऐतिहासिक प्रमाण १०७

५. डॉक्टर सा० के मत में परिवर्तन— १०९

□ महावीर के निर्ग्रन्थसंघ का सर्वथा अचेल होना मान्य १०९

□ अचेल-निर्ग्रन्थसंघ से सचेल-श्वेताम्बरसंघ का उद्भव मान्य १०९

□ श्वेताम्बरसंघ से यापनीयसंघ की उत्पत्ति स्वीकार्य १०९

चतुर्थ प्रकरण—सचेलाचेल-संघ से श्वेताम्बर-यापनीयों के उद्भव की मान्यता कपोलकल्पित ११२

१. उक्त कपोलकल्पना का महत्त्वपूर्ण प्रयोजन ११२

२. कपोलकल्पितता के प्रमाण ११३

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

अन्तस्तत्त्व

पञ्चम प्रकरण—सामान्य पुरुषों के लिए तीर्थंकरलिंग-निषेध मनगढ़न्त ११७

१. पंचमकाल में सचेललिंग को ही जिनोक्त, उचित और अनिवार्य ठहराने का प्रयास ११७
२. दिगम्बरमत को निह्नवमत (मिथ्यामत) सिद्ध करने की चेष्टा १२०
३. हीनसंहननधारियों को भी तीर्थंकरलिंग-ग्रहण का उपदेश : इसके प्रमाण १२१
   ३.१. महावीर का उपदेश पंचमकाल के जीवों के लिए भी १२१
   ३.२. अचेलकधर्म का उपदेश तीर्थंकरों के लिए नहीं १२२
   ३.३. आस्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा के हेतु सबके लिए समान १२२
   ३.४. पञ्चमकालीन प्रमत्त-अप्रमत्तसंयतों को भी नाग्न्यपरीषह १२४
   ३.५. हीनसंहननधारी को भी नग्न होने पर ही शीतादिपरीषह संभव १२४
   ३.६. आचारांग में अचेलत्व से संयम-शिष्टता की हानि अमान्य, ह्री-कुत्सा-भय-त्याग प्रशंसित १२५
   ३.७. वैराग्यपरिणत ज्ञानी नग्नमुनि का लिंगोत्थान संभव नहीं १२७
   ३.८. नपुंसक बनाये जाने की धारणा हास्यास्पद १२८
४. दिगम्बरपरम्परा में जिनलिंग आज भी प्रवर्तमान १३२
५. श्वेताम्बरों का दिगम्बरमत के प्रति आकर्षण १३३

षष्ठ प्रकरण—सग्रन्थ के लिए 'निर्ग्रन्थ' शब्द का प्रयोग इतिहासविरुद्ध १३८

१. दिगम्बरग्रन्थों में 'निर्ग्रन्थ' शब्द 'सर्वथा अचेल' का वाचक १३८
२. अभिलेखों में 'निर्ग्रन्थ' शब्द 'दिगम्बर जैन मुनि' का वाचक १४०
३. डॉ० सागरमल जी के मत में परिवर्तन—ईसापूर्व चतुर्थ शती से दिगम्बरसंघ ही 'निर्ग्रन्थसंघ' नाम से प्रसिद्ध १४४
४. ईसापूर्व चतुर्थ शती से श्वेताम्बरसंघ 'श्वेतपटसंघ' नाम से प्रसिद्ध १४५
५. सम्प्रदायों के नामकरण के आधार : लिंग, देवता एवं तत्त्व १४६
६. स्वसंघ के लिए 'श्वेतपटसंघ' नाम प्रचारित १४९
७. केवल दिगम्बरसंघ का 'निर्ग्रन्थसंघ' नाम श्वेताम्बरों को भी मान्य १५०

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

८. कल्पित सचेलाचेलसंघ की 'निर्ग्रन्थसंघ' नाम से प्रसिद्धि अयुक्तियुक्त १५१
□ उपसंहार १५२

तृतीय अध्याय

श्वेताम्बरसाहित्य में दिगम्बरमत की चर्चा

प्रथम प्रकरण—अचेलत्व के दिगम्बरमान्य स्वरूप का वर्णन १५५

१. श्वेताम्बरसाहित्य में अचेलपरम्परा की स्मृतियों के अवशेष १५५
२. सभी तीर्थंकरों के दिगम्बरमुद्रा से मोक्ष होने का कथन १५६
३. एकवस्त्रसहित प्रव्रज्या की कथा वस्तुतः चेलोपसर्ग १५७
४. तीर्थंकरों के सर्वथा अचेल होने का कथन १५९
५. आदि-अन्तिम तीर्थंकरों द्वारा अचेलकधर्म का उपदेश १६०
६. आचारांगादि में अचेल का अर्थ अल्पचेल नहीं १६२
७. आचारांग-स्थानांग में अचेलत्व की श्रेष्ठता का वर्णन १६५
८. आचारांगानुसार द्रव्यपरिग्रह भी परिग्रह १६७
९. परीषहजय एवं तप के लिए पूर्ण निर्वस्त्रता की अनुशंसा १६८
१०. दिगम्बरत्व उत्सर्गमार्ग, साम्बरत्व अपवादमार्ग १६९

द्वितीय प्रकरण—उत्तरवर्ती साहित्य में दिगम्बरीय सिद्धान्तों का खण्डन १७१

१. परिग्रह की परम्परागत परिभाषा का खण्डन १७१
२. जिनकल्प का नाम देकर अचेलत्व के विच्छेद की घोषणा। १७३
३. सचेल के लिए 'अचेलक' शब्द का व्यवहार प्रसिद्ध बतलाने का प्रयास १७४
३.१. महावीर के तीर्थ में सचेलकधर्म का अस्तित्व नहीं १७४
३.२. विपरीतार्थ-प्ररूपण द्वारा महावीर के तीर्थ में सचेलकधर्म की सिद्धि का प्रयास १७४
३.३. 'अचेल' शब्द का अशास्त्रप्रसिद्ध-अलोकप्रसिद्ध अर्थप्ररूपण १७८
□ निरसन १८०

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

३.४. आगम में 'अचेलक' शब्द से 'अचेलक' अर्थ ही अभीष्ट १८०
३.५. प्राकृत-संस्कृत-भाषा-असम्मत वचन आप्तवचन नहीं १८०
३.६. सचेल की 'अचेल' संज्ञा गुणाश्रित नहीं १८१
३.७. 'अचेलत्व' सचेल साधु का असाधारणधर्म नहीं १८१
३.८. विपरीतार्थ और अयथार्थ शब्द का प्रयोग निष्प्रयोजन १८२
३.९. सचेल के लिए अचेल-शब्द-व्यवहार शंका-विमोह-जनक १८२
३.१०. साधुओं के लिए महामूल्य-वस्त्रधारण का उपदेश असंभव १८२
३.११. 'नग्न' विशेषण के 'सर्वथा निर्वस्त्र' और 'अल्पवस्त्रयुक्त', दो अर्थ असंभव १८४
३.१२. सर्वसङ्करत्व-दोष की उत्पत्ति १८५
३.१३. स्वमत को तीर्थंकरोपदिष्ट सिद्ध करने हेतु 'अचेलक' शब्द का विपरीतार्थ-प्ररूपण १८५
४. लोक में भी सचेल के लिए 'नग्न' शब्द का व्यवहार अप्रसिद्ध १८७
□ दोनों दृष्टान्त अप्रामाणिक १८७
४.१. रूढ़ार्थ द्वारा मूलमुख्यार्थ का निरसन १९०
४.२. नाग्न्यपरीषह के अयुक्तियुक्त होने का प्रसंग १९२
५. मलधारी हेमचन्द्रसूरि के मत की अयुक्तिमत्ता १९२
□ उपचरित 'नग्न' शब्द 'दरिद्रादि' अर्थ का प्रतिपादक १९२
५.१. उपचार का अर्थ १९३
५.२. उपचार के नियम १९४
५.३. उपचरित शब्द का मुख्यार्थ 'असत्य', अत एव अग्राह्य १९५
५.४. उपचरित शब्द से उपचरित अर्थ ग्राह्य १९५
५.५. 'नग्न' शब्द के मुख्य और उपचरित अर्थ १९७
५.६. द्विविध नग्नत्व के आगमप्रमाण उपलब्ध नहीं १९८
५.७. लोकरूढ़ि एवं उपचार परस्परविरुद्ध १९९
६. अचेलत्व के संयमादिघातक होने का उद्घोष २०१
७. वस्त्रादि के संयमसाधक होने का प्रतिपादन २०२
८. तीर्थंकर इसके अपवाद २०४
९. तीर्थंकरों की बराबरी करने का निषेध २०४

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

१०. संयमसाधनभूत वस्त्रादि के मूर्च्छाहेतुत्व का निषेध २०५
११. कषायादि के हेतु होते हुए भी वस्त्रादि के ग्रन्थत्व का निषेध २०६
१२. स्वर्ण और युवती के ग्रन्थत्व का निषेध २०७
१३. परीषहजय के आगमप्रसिद्ध अर्थ का अपलाप २०८
१४. 'यथाजातरूप' का हास्यास्पद अर्थप्ररूपण २१०

तृतीय प्रकरण—वस्त्रादि संयम के साधक नहीं, घातक २१२

१. वस्त्रादिग्रहण देहसुखसाधनार्थ २१२
२. संयमध्यानादि की सिद्धि परीषहजय से २१७
३. वस्त्रादिग्रहण इष्टराग-अनिष्टद्वेष का फल २१९
४. वस्त्रपात्रादि-परिग्रह मूर्च्छा का फल २२०
५. परीषह-पीड़ानिवारक वस्तुओं का उपभोग 'मूर्च्छा' का लक्षण २२१
६. वस्त्रपात्रादि का संग मूर्च्छा का हेतु २२४
७. वस्त्रपात्रादिसंग भय-कषायादि का हेतु २२५
८. वस्त्रपरिभोग निर्जराविरोधी २२६
९. मोक्षबाधक होने से ही तीर्थंकरों द्वारा वस्त्रत्याग २२७
१०. साधारण पुरुषों के लिए भी वस्त्रपात्रादि मोक्ष में बाधक २२९
□ कर्मसिद्धान्त पक्षपातरहित २२९
११. लौकिक वैद्य और आध्यात्मिक वैद्य में समानता नहीं २३२
१२. सवस्त्रमुक्ति संभव होने पर निर्वस्त्रता केवल क्लेश का कारण २३३

चतुर्थ अध्याय

जैनेतर साहित्य में दिगम्बरजैन मुनियों की चर्चा

प्रथम प्रकरण—वैदिकसाहित्य एवं संस्कृतसाहित्य में दिगम्बरजैन मुनि २३९

१. ऋग्वेद में वातरशन मुनि, वृषभ, शिश्नदेव २४०
२. अथर्ववेद एवं ब्राह्मणग्रन्थों में यति और व्रात्य २४८
३. तैत्तिरीयारण्यक में वातरशन श्रमण २४९
४. निघण्टु (८०० ई० पू०) में श्रमण, दिगम्बर, वातवसन २५०
५. महाभारत (५००-१०० ई० पू०) में नग्न क्षपणक २५१
६. चाणक्यशतक (४०० ई० पू०) में नग्नक्षपणक २५७

७. पंचतन्त्र (३०० ई०) में नग्नक, क्षपणक, दिगम्बर, धर्मवृद्धि २५८
८. भासकृत 'अविमारक' (३०० ई०) में वस्त्रविहीन श्रमण २६०
९. मत्स्यपुराण (३०० ई०) में निष्कच्छ, निर्ग्रन्थ, नग्न २६१
१०. विष्णुपुराण (३००-४०० ई०) में नाभि, मेरुदेवी, ऋषभ, भरत, नग्न, दिगम्बर, बर्हिपिच्छधर, अनेकान्तवाद २६२
१०.१. भगवान् ऋषभदेव प्रथम मनु स्वायंभुव के पाँचवें वंशज २६२
१०.२. दिगम्बरजैनधर्म विष्णुपुराणकार के समय से अतिप्राचीन २६६
११. मुद्राराक्षस नाटक (४००-५०० ई०) में क्षपणक, बीभत्सदर्शन २६९
१२. वायुपुराण (५०० ई०) में नग्न, निर्ग्रन्थ २७०
१३. वराहमिहिर-बृहत्संहिता (४९० ई०) में नग्न, दिग्वासस्, निर्ग्रन्थ २७१
१४. उत्तरभारत में 'जैन' नाम से दिगम्बर ही सर्वाधिक प्रसिद्ध २७२
१५. भागवतपुराण (६०० ई०) में वातरशन श्रमण, गगन-परिधान २७३
१६. ऋषभदेव का वैदिकधारा पर प्रभाव २७५
१७. जाबालोपनिषद् में दिगम्बरजैन-मुनिधर्मवत् पारमहंस्यधर्म २७७
१८. योग के आद्यप्रवर्तक भगवान् ऋषभदेव २८१
१९. कादम्बरी-हर्षचरित (७ वीं शती ई०) में क्षपणक, आर्हत, नग्नाटक, मयूरपिच्छधारी २८२
२०. भर्तृहरि-वैराग्यशतक (७०० ई०) में पाणिपात्र-दिगम्बर २८३
२१. (वैदिक) पद्ममहापुराण में निर्ग्रन्थ, क्षपण २८३
२२. कूर्मपुराण (७०० ई०) में निर्ग्रन्थ २८७
२३. ब्रह्माण्डपुराण में नग्न, निर्ग्रन्थ २९०
२४. लिङ्गपुराण में नग्न ऋषभ २९०
२५. न्यायकुसुमाञ्जलि (९८४ ई०) में निरावरण, दिगम्बर २९२
२६. न्यायमञ्जरी (१००० ई०) में दिगम्बर २९२
२७. प्रबोधचन्द्रोदय (१०६५ ई०) में विमुक्तवसन, क्षपणक, दिगम्बर २९३
२८. 'क्षपणक' का अर्थ श्वेताम्बर-जिनकल्पी मुनि नहीं २९५
२९. श्वेताम्बरसाधु 'श्वेतपट' या 'सिताम्बर' नाम से प्रसिद्ध २९७
□ शिवमहापुराण में श्वेताम्बर साधु २९७
३०. 'क्षपणक' शब्द यापनीयसाधु का भी वाचक नहीं ३००
३१. दिगम्बरजैन मुनि और आजीविक साधु में भेद ३०१

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

३२. आजीविकों का इतिहास ३०४
३३. आजीविक साधु की भी 'क्षपणक' संज्ञा संभव नहीं ३०८
३४. 'निर्ग्रन्थ' शब्द केवल दिगम्बरजैन साधुओं के लिए प्रसिद्ध ३०९

द्वितीय प्रकरण—बौद्धसाहित्य में दिगम्बरजैन मुनि ३१०

१. प्राचीन बौद्धसाहित्य में दिगम्बरजैन मुनियों का उल्लेख ३१०
१.१. अंगुत्तरनिकाय में निर्ग्रन्थों की नग्नता का द्योतन ३११
१.२. 'अपदान' ग्रन्थ में श्वेतवस्त्र मुनियों का उल्लेख ३१३
२. बुद्धकालीन छह अन्यतीर्थिकों में भगवान् महावीर ३१४
३. अजातशत्रु के एक मंत्री द्वारा निगण्ठनाटपुत्र की प्रशंसा ३१५
४. बुद्धेतर छह तीर्थिकों में निर्ग्रन्थ के आचार का निरूपण ३१५
५. तीर्थंकर महावीर की 'निर्ग्रन्थ' संज्ञा क्यों? ३१७
६. अन्यतीर्थिकवत् नग्न रहने का निषेध ३१७
७. नग्नता एवं कुशचीरादि-धारण करने का निषेध ३१८
८. 'एकशाटक' सम्प्रदाय निर्ग्रन्थसम्प्रदाय से भिन्न ३१९
☐ 'उदानपालि' का प्रमाण ३१९
९. निर्ग्रन्थों के लिए भी 'अचेलक' शब्द का प्रयोग ३२४
१०. निर्ग्रन्थपुत्र सच्चक द्वारा वर्णित आजीविकों का आचार ३२५
११. अचेल काश्यप द्वारा वर्णित आजीविकों का आचार ३२८
१२. निर्ग्रन्थसम्प्रदाय के श्रावक की भी 'निर्ग्रन्थ' संज्ञा ३३०
☐ चुल्लकालिंग-जातक ३३४
१३. 'ओदातवसन' का अर्थ श्वेतवस्त्रधारी ३३७
१४. 'दिव्यावदान' में निर्ग्रन्थ-श्रमण का नग्नरूप ३३८
१५. धम्मपद-अट्ठकथा में निर्ग्रन्थ का नग्नरूप ३४०
१६. निर्ग्रन्थ में अवास्तविक आचरण का चित्रण ३४२
१७. बौद्धसाहित्य में वस्त्रधारी निर्ग्रन्थों का उल्लेख नहीं ३४५
१७.१. कुण्डलकेसित्थेरीवत्थु ३४६
१७.२. मुनि श्री नगराज जी के भ्रम का कारण ३४९
१८. आर्यशूरकृत 'जातकमाला' में निर्ग्रन्थश्रमण का नग्नरूप ३५१
१९. 'दिव्यावदान' के रचनाकाल में यापनीयों का उदय नहीं ३५२
२०. निर्णीतार्थ ३५३

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

पंचम अध्याय

पुरातत्त्व में दिगम्बर-परम्परा के प्रमाण

प्रथम प्रकरण—श्वेताम्बर-परम्परा में नग्न जिनप्रतिमाओं का निर्माण असंभव ३५९

१. शुभप्रभामण्डल से तीर्थंकरों का नग्नत्व अदृश्य ३५९
२. प्राचीन श्वेताम्बर-जिनप्रतिमाएँ गुह्यांग-रचना-रहित ३६३
३. श्वेताम्बरमतानुसार नग्न जिनप्रतिमा जिनबिम्ब नहीं ३६८
४. मुनि कल्याणविजय जी : मथुरा की प्राचीन जिन प्रतिमाएँ अनग्न ३६९
५. मथुरा की प्राचीन जिनप्रतिमाएँ नग्न ही हैं ३७१
६. वे श्वेताम्बरपरम्परा की प्रतिमाएँ नही हैं ३७१
७. गर्भपरिवर्तन की घटना का उत्कीर्णन ३७३
□ डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन का लेख : **मथुरा की नैगमेश-मूर्तियाँ और कृष्णजन्म** ३७३
८. कुछ जिनप्रतिमाओं का सम्बन्ध अर्धफालक-सम्प्रदाय से ३७७
९. छठी शती ई० के पूर्व श्वेताम्बरसंघ में अनग्न-अचेल जिनप्रतिमा की पूजा ३८६
९.१. छठी शती ई० के पूर्व भी सभी संघों के मन्दिर अलग-अलग थे ३८८
९.२. परस्परविरोधी-मान्यतावालों की एक ही मन्दिर में पूजा-उपासना असंभव ३९२
९.३. पूर्वकाल में श्वेताम्बरसंघ अनग्न-अचेल-जिनप्रतिमा का पूजक ३९२

द्वितीय प्रकरण—दिगम्बर-जिनप्रतिमाओं के निर्माण का इतिहास ३९४

१. मोहेन-जो-दड़ो की जिनप्रतिमाएँ ३९४
२. हड़प्पा-जिनप्रतिमा ३९८
□ **हड़प्पा और जैनधर्म** : श्री टी० एन० रामचन्द्रन् ३९९
३. कलिंग-जिनप्रतिमा ४०५

४. लोहानीपुर-जिनप्रतिमा ४०८
५. कांस्य-जिनप्रतिमा ४१०
६. मथुरा-जिनप्रतिमाएँ ४११
७. गुप्तकालीन जिनप्रतिमाएँ ४१२
८. बाहुबली की प्रतिमाएँ ४१२

तृतीय प्रकरण—श्वेताम्बर-सवस्त्र-जिनप्रतिमाओं के निर्माण का इतिहास ४१४

१. ईसा की छठी शताब्दी से ४१४
२. प्राचीन श्वेताम्बरपरम्परा में मूर्तिपूजा का अभाव ४१६
३. सभी प्राचीन नग्न जिनप्रतिमाएँ दिगम्बरीय ४३१
४. नग्न-जिनप्रतिमा-निर्माण एवं पूजन का प्रारम्भ दिगम्बर-परम्परा द्वारा ४३२
५. आ० हस्तीमल जी के मत के अप्रामाणिक अंश ४३२

चतुर्थ प्रकरण—अभिलेखों में निर्ग्रन्थों और मूलसंघ के उल्लेख ४३५

विस्तृत सन्दर्भ ४३७

१. श्री टी० एन० रामचन्द्रन् के लेख का मूलपाठ : HARAPPA AND JAINISM ४३७
२. हड़प्पा-जिनप्रतिमा का चित्र
३. लोहानीपुर-जिनप्रतिमा का चित्र

षष्ठ अध्याय

दिगम्बर-श्वेताम्बर-भेद का इतिहास

प्रथम प्रकरण—संघभेद के साहित्यिक प्रमाण ४४५

१. यापनीयों से दिगम्बरों की उत्पत्ति का मत भारी छलवाद ४४५
२. 'दिगम्बर' शब्द 'निर्ग्रन्थ' का नामान्तर ४४६
३. जम्बूस्वामी के पश्चात् दिगम्बर-श्वेताम्बर-संघभेद ४४६
४. द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष से पुनः संघभेद ४५२
५. ६०० ई० के शिलालेख में दुर्भिक्ष का उल्लेख ४५२

अन्तस्तत्त्व

६. बृहत्कथाकोश का भद्रबाहुकथानक (ई० ९३१) ४५३
☐ अर्धफालकसंघ एवं काम्बलतीर्थ ४५३
७. देवसेनकृत 'भावसंग्रह' (प्राकृत) की भद्रबाहुकथा (९३३-९५५ ई०) ४५७
८. रत्ननन्दिकृत भद्रबाहुचरित (१६ वीं शती ई०) ४५९
९. विसंगतियाँ ४६१
१०. विश्वसनीय अंश ४६२
११. श्वेताम्बरसाहित्य में भद्रबाहु-विवाद-कथा ४६५

द्वितीय प्रकरण—डॉ० सागरमल जी का अन्तिम मत इतिहास-सम्मत ४७०

१. अनेक दिशाओं में भटकी विचारयात्रा ४७०
२. आज का दिगम्बरसंघ भद्रबाहु-नीत अचेल निर्ग्रन्थसंघ का ही प्रतिनिधि ४७४

तृतीय प्रकरण—श्वेताम्बरसाहित्य का विकास ४८०

☐ निर्णीतार्थ ४८१

सप्तम अध्याय

यापनीयसंघ का इतिहास

प्रथम प्रकरण—यापनीयसंघ का स्वरूप ४८५

१. सिद्धान्त और आचार ४८५
☐ अचेलकता-सचेलकता दोनों के पक्षधर ४८८
२. बोटिक शिवभूति यापनीयमत का प्रवर्तक नहीं ४८८
३. श्वेताम्बरसंघ से यापनीयसंघ की उत्पत्ति ४८९
४. उत्तरभारत की सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा काल्पनिक ४९१
५. दिगम्बरसंघ से यापनीयसंघ की उत्पत्ति नहीं ४९२
☐ आचार्य हस्तीमल जी के मत की असमीचीनता ४९२
६. सिद्धान्तविपरीत वेशग्रहण का प्रयोजन ४९३
६.१. श्वेताम्बर-दिगम्बरों में सैद्धान्तिक मेल कराना ४९४
६.२. सैद्धान्तिक मेल की कल्पना अयुक्तिसंगत ४९४
६.३. लोकमान्यता-राजमान्यता की प्राप्ति ४९६

७. 'यापनीय' नाम श्वेताम्बरसाहित्य से गृहीत ५००
८. बोटिक शिवभूति के गुरु श्वेताम्बर ५०३
९. उत्पत्तिस्थान : दक्षिण भारत ५०३
१०. उत्पत्तिकाल : पाँचवीं शती ई० का प्रथम चरण ५११

द्वितीय प्रकरण—खारवेल-अभिलेख की समीक्षा ५१७

१. 'यापज्ञापक' का अर्थ 'यापनीय आचार्य' नहीं ५१७
२. 'धर्मनिर्वाहक ' भी नहीं, अपितु धर्मोपदेशक ५२१
३. 'यापञावकेहि' में चतुर्थी नहीं, तृतीया ५२१
४. तृतीयान्त के लिए 'वस्त्रादिदान' अर्थ संगत नहीं ५२२
५. खारवेल का श्वेताम्बरत्व भी सिद्ध नहीं ५२४
६. श्वेताम्बर सिद्ध करने का अन्य कपट-प्रयास ५२५
६.१. प्रथम लेख : **राजा खारवेल और उसका वंश—** लेखक : श्री० मुनि कल्याण-विजय जी ५२६
६.२. द्वितीय लेख : **राजा खारवेल और उसका वंश—** लेखक : बाबू कामताप्रसाद जी ५३१
६.३. **उपर्युक्त लेख पर सम्पादकीय नोट**—लेखक : पं० जुगलकिशोर मुख्तार, सम्पादक-'अनेकान्त' ५३८
६.४. **थेरावली-विषयक विशेष सम्पादकीय नोट**—लेखक : पं० जुगलकिशोर मुख्तार, सम्पादक—'अनेकान्त' ५३९
६.५. तृतीय लेख : **राजा खारवेल और हिमवन्तथेरावली—** लेखक : मुनि श्री कल्याणविजय जी ५४०
६.६. 'अनेकान्त' के सम्पादक को लिखित मुनि जिनविजय जी का पत्र और हिमवंत-थेरावली के जाली होने की सूचना ५५२
६.७. 'अनेकान्त' में प्रकाशनार्थ प्रेषित उपर्युक्त पत्र **चक्रवर्ती खारवेल और हिमवन्त-थेरावली—** लेखक : श्री० काशीप्रसाद जी जायसवाल ५५४

तृतीय प्रकरण—यापनीयसंघ का पूर्व नाम 'मूलसंघ' नहीं ५५५

१. 'मूलसंघ' निर्ग्रन्थसंघ का नामान्तर ५५५

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

अन्तस्तत्त्व

२. मुनि कल्याणविजय जी एवं डॉ० सागरमल जी का मत ५५६
३. यापनीयसंघ 'मूलसंघ' नहीं : इसके प्रमाण ५५८
४. क्राणूर या काणूर गण मूलसंघ का ही गण था ५६५
५. निर्ग्रन्थसंघ ही मूलसंघ : डॉ० सागरमल जी ५६९
६. दिगम्बरसंघ के ही मूलसंघ होने का एक स्पष्ट प्रमाण ५७२
७. निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) संघ की प्राचीनता की स्वीकृति ५७३

चतुर्थ प्रकरण—यापनीय संघ की अन्य विशेषताएँ ५७४

१. मन्दिरनिर्माण एवं मूर्तिप्रतिष्ठा ५७४
२. यापनीयसाहित्य ५७४
३. श्वेताम्बरीय और यापनीय आगमग्रन्थों में पाठभेद ५७६
४. यापनीय-मान्य आगमों की भाषा शौरसेनी ५८१
५. यापनीयसंघ का लोप क्यों हुआ? ५८६

पञ्चम प्रकरण—यापनीयग्रन्थ के लक्षण ५८८

शब्दविशेष-सूची ५९१

प्रयुक्त ग्रन्थों एवं शोधपत्रिकाओं की सूची ६१९

इस संघ की अचेल और सचेल, दोनों लिंगों से मुक्ति की मान्यता बड़ी अयुक्तिसंगत थी। जब वस्त्रधारण करते हुए मुक्ति हो सकती है, तब मोक्ष के लिए नग्न रहकर शीतादि-परीषहों का अनावश्यक कष्ट भोगने का क्या औचित्य? लोगों के इस प्रश्न का समाधान यापनीयमत में नहीं था। इसलिए यह मत अधिक दिनों तक जीवित नहीं रह सका और अपने जन्म के एक हजार वर्ष बाद ही अर्थात् १५०० ई० में कालकवलित हो गया।

कालान्तर में भगवान् महावीर के अनुयायी एकान्त-अचेलमुक्तिवादी निर्ग्रन्थसंघ से काष्ठासंघ, द्राविड़संघ, माथुरसंघ आदि संघों की उत्पत्ति हुई। इन संघों के साधु यद्यपि एकान्त-अचेलमुक्तिवादी थे, तथापि इन्होंने अपने सिद्धान्तों में कुछ ऐसा परिवर्तन कर लिया कि इन्हें जैनाभास घोषित कर दिया गया।

श्वेताम्बर आचार्यों, मुनियों एवं विद्वानों ने आरंभ से ही यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि भगवान् महावीर ने श्वेताम्बरमत (सवस्त्रतीर्थ) का ही उपदेश दिया है, दिगम्बरमत का नहीं। दिगम्बरमत छद्मस्थ-प्रणीत है। प्राचीन श्वेताम्बराचार्यों का कथन है कि बोटिक शिवभूति नामक एक साधारण पुरुष ने वीरनिर्वाण सं० ६०९ (ई० सन् ८२) में दिगम्बरमत चलाया था। आधुनिक श्वेताम्बर मुनि एवं विद्वान् मानते हैं कि दिगम्बरमत की नींव आचार्य कुन्दकुन्द ने विक्रम की छठी शताब्दी में डाली थी। वे कुन्दकुन्द को भी प्राचीन आचार्य न मानकर विक्रम की छठी शताब्दी में उत्पन्न बतलाते हैं। श्वेताम्बर आचार्यों एवं विद्वानों का कथन है कि चूँकि दिगम्बरमत छद्मस्थप्रणीत है, इसलिए उनके शास्त्र भी छद्मस्थों के द्वारा ही रचे गये हैं और उनकी रचना श्वेताम्बर-शास्त्रों को देखकर की गयी है। इसका सबूत वे यह देते हैं कि दिगम्बरग्रन्थों में श्वेताम्बरग्रन्थों की अनेक गाथाएँ ज्यों की त्यों मिलती हैं। दिगम्बराचार्यों द्वारा रचित कसायपाहुड, तत्त्वार्थसूत्र और सन्मतिसूत्र को तो उन्होंने श्वेताम्बरग्रन्थ ही घोषित कर दिया है।

इधर दिगम्बर विद्वान् पं० नाथूराम जी प्रेमी ने अपने ग्रन्थ 'जैनसाहित्य और इतिहास' में दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थ भगवती-आराधना, उसकी विजयोदया टीका, मूलाचार, और तत्त्वार्थसूत्र को यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ माना है और दिगम्बरविदुषी डॉ० श्रीमती कुसुम पटोरिया ने भी 'यापनीय और उनका साहित्य' नामक ग्रन्थ में प्रेमी जी का अनुसरण करते हुए इन्हें यापनीयग्रन्थ बतलाया है। इनके साथ उन्होंने सन्मतिसूत्र, हरिवंशपुराण तथा बृहत्कथाकोश, इन दिगम्बरग्रन्थों को भी यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने की चेष्टा की है। इन दोनों से प्रेरणा और मार्गदर्शन प्राप्त कर आधुनिक श्वेताम्बर

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

प्रकाशकीय

जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव से लेकर अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर तक चौबीसों तीर्थंकरों ने पूर्ण अपरिग्रह के प्रतीकभूत एकमात्र अचेललिंग (नग्नमुद्रा) से जीव के मुक्त होने का उपदेश दिया था। अतः ऋषभादि तीर्थंकरों के समान अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर का अनुयायी श्रमण-संघ भी केवल अचेल-लिंगधारी था। इस कारण निर्ग्रन्थसंघ कहलाता था। किन्तु अन्तिम अनुबद्ध केवली श्री जम्बूस्वामी के निर्वाण (वीरनिर्वाण सं० ६२ = ईसापूर्व ४६५) के पश्चात् ही भगवान् महावीर का अनुयायी निर्ग्रन्थसंघ दो भागों में विभक्त हो गया। शीतादि-परीषहों की पीड़ा सहने में असमर्थ कुछ निर्ग्रन्थ साधुओं ने दिगम्बरवेश छोड़कर वस्त्र, पात्र, कम्बल आदि ग्रहण कर लिये और यह मान्यता प्रचलित की, कि मनुष्य को केवल सचेललिंग से मुक्ति प्राप्त हो सकती है, अचेललिंग मुक्ति में बाधक है। सचेलमुक्ति की मान्यता के तर्क से उक्त साधुओं ने स्त्रीमुक्ति, परतीर्थिकमुक्ति और गृहस्थमुक्ति की मान्यता का भी पोषण किया। अपनी सचेलमुक्ति की मान्यता को लोकप्रसिद्ध करने के लिए इस साधुवर्ग ने स्वयं को श्वेतपटसंघ या श्वेताम्बरसंघ नाम से प्रसिद्ध किया।

ईसापूर्व चौथी शताब्दी में अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय एकान्त-अचेलमुक्ति-वादी मूल निर्ग्रन्थसंघ का पुनः विभाजन हुआ। इस बार १२ वर्ष के अकाल के कारण आहारप्राप्ति में होनेवाली कठिनाइयों के फलस्वरूप निर्ग्रन्थ (नग्न) साधुओं का एक वर्ग अर्धफालक (वस्त्र का आधा टुकड़ा) धारण करने लगा, जिससे वह अर्धफालकसंघ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अर्धफालक साधु रहते तो नग्न थे, किन्तु अपने बायें हाथ पर सामने की ओर आधा वस्त्र लटकाकर गुह्यांग को छिपाते थे। भिक्षा के लिए वे पात्र भी रखते थे। आगे चलकर यह संघ श्वेताम्बरसंघ में विलीन हो गया।

ईसा की पाँचवीं शती के प्रारंभ में श्वेताम्बर-श्रमणसंघ से यापनीयसंघ का आविर्भाव हुआ। यह दिगम्बरों के समान अचेललिंग और श्वेताम्बरों के समान सचेललिंग, दोनों से मुक्ति मानता था। तथापि इसकी आस्था श्वेताम्बर-आगमों एवं श्वेताम्बरीय मान्यताओं में ही थी। अतः यह श्वेताम्बरों के समान स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति, परतीर्थिकमुक्ति, केवलिकवलाहार, भगवान् महावीर के गर्भपरिवर्तन आदि बातों में विश्वास करता था।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

इस संघ की अचेल और सचेल, दोनों लिंगों से मुक्ति की मान्यता बड़ी अयुक्तिसंगत थी। जब वस्त्रधारण करते हुए मुक्ति हो सकती है, तब मोक्ष के लिए नग्न रहकर शीतादि-परीषहों का अनावश्यक कष्ट भोगने का क्या औचित्य? लोगों के इस प्रश्न का समाधान यापनीयमत में नहीं था। इसलिए यह मत अधिक दिनों तक जीवित नहीं रह सका और अपने जन्म के एक हजार वर्ष बाद ही अर्थात् १५०० ई० में कालकवलित हो गया।

कालान्तर में भगवान् महावीर के अनुयायी एकान्त-अचेलमुक्तिवादी निर्ग्रन्थसंघ से काष्ठासंघ, द्राविड़संघ, माथुरसंघ आदि संघों की उत्पत्ति हुई। इन संघों के साधु यद्यपि एकान्त-अचेलमुक्तिवादी थे, तथापि इन्होंने अपने सिद्धान्तों में कुछ ऐसा परिवर्तन कर लिया कि इन्हें जैनाभास घोषित कर दिया गया।

श्वेताम्बर आचार्यों, मुनियों एवं विद्वानों ने आरंभ से ही यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि भगवान् महावीर ने श्वेताम्बरमत (सवस्त्रतीर्थ) का ही उपदेश दिया है, दिगम्बरमत का नहीं। दिगम्बरमत छद्मस्थ-प्रणीत है। प्राचीन श्वेताम्बराचार्यों का कथन है कि बोटिक शिवभूति नामक एक साधारण पुरुष ने वीरनिर्वाण सं० ६०९ (ई० सन् ८२) में दिगम्बरमत चलाया था। आधुनिक श्वेताम्बर मुनि एवं विद्वान् मानते हैं कि दिगम्बरमत की नींव आचार्य कुन्दकुन्द ने विक्रम की छठी शताब्दी में डाली थी। वे कुन्दकुन्द को भी प्राचीन आचार्य न मानकर विक्रम की छठी शताब्दी में उत्पन्न बतलाते हैं। श्वेताम्बर आचार्यों एवं विद्वानों का कथन है कि चूँकि दिगम्बरमत छद्मस्थप्रणीत है, इसलिए उनके शास्त्र भी छद्मस्थों के द्वारा ही रचे गये हैं और उनकी रचना श्वेताम्बर-शास्त्रों को देखकर की गयी है। इसका सबूत वे यह देते हैं कि दिगम्बरग्रन्थों में श्वेताम्बरग्रन्थों की अनेक गाथाएँ ज्यों की त्यों मिलती हैं। दिगम्बराचार्यों द्वारा रचित कसायपाहुड, तत्त्वार्थसूत्र और सन्मतिसूत्र को तो उन्होंने श्वेताम्बरग्रन्थ ही घोषित कर दिया है।

इधर दिगम्बर विद्वान् पं० नाथूराम जी प्रेमी ने अपने ग्रन्थ 'जैनसाहित्य और इतिहास' में दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थ भगवती-आराधना, उसकी विजयोदया टीका, मूलाचार, और तत्त्वार्थसूत्र को यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ माना है और दिगम्बरविदुषी डॉ० श्रीमती कुसुम पटोरिया ने भी 'यापनीय और उनका साहित्य' नामक ग्रन्थ में प्रेमी जी का अनुसरण करते हुए इन्हें यापनीयग्रन्थ बतलाया है। इनके साथ उन्होंने सन्मतिसूत्र, हरिवंशपुराण तथा बृहत्कथाकोश, इन दिगम्बरग्रन्थों को भी यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने की चेष्टा की है। इन दोनों से प्रेरणा और मार्गदर्शन प्राप्त कर आधुनिक श्वेताम्बर

विद्वान् डॉ० सागरमल जी जैन ने 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' नामक एक बड़ा ग्रन्थ लिखा, जिसमें उन्होंने उपर्युक्त ग्रन्थों में से तत्त्वार्थसूत्र और सन्मतिसूत्र को छोड़कर शेष पाँच ग्रन्थों को तथा अपनी ओर से कसायपाहुड, षट्खण्डागम आदि ११ नये दिगम्बरग्रन्थों को उनमें जोड़कर कुल सोलह ग्रन्थों को यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने का प्रयास किया है। तत्त्वार्थसूत्र और सन्मतिसूत्र को उन्होंने उस स्वकल्पित उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा का ग्रन्थ बतलाया है, जो उनकी कल्पनानुसार तीर्थंकर महावीर द्वारा प्रणीत थी तथा श्वेताम्बर और यापनीय संघों की मातृपरम्परा थी। इस प्रकार दिगम्बरजैनपरम्परा को उन्होंने साहित्य की दृष्टि से अत्यन्त दरिद्र ठहराने की भी चेष्टा की है।

इन ग्रन्थों को पढ़कर दिगम्बर जैन सन्तों एवं विद्वानों के हृदय व्यथित हो गये। डॉ० सागरमल जी के ग्रन्थ ने तो इस व्यथा को चरम सीमा पर पहुँचा दिया, क्योंकि उन्होंने तो दिगम्बरपरम्परा के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साहित्य के एक बहुत बड़े अंश को सर्वथा कपोलकल्पित हेतुओं एवं छलवाद के द्वारा यापनीयपरम्परा का साहित्य सिद्ध करने का कुप्रयास किया है। दिगम्बरजैनधर्म के इतिहास और साहित्य के साथ योजना-बद्ध ढँग से की गयी इस धोखाधड़ी ने इस युग के दिगम्बरजैन धर्म एवं संस्कृति के सातिशय प्रभावक, श्रुताराधक एवं श्रुताभ्यासी दिगम्बरजैनाचार्य परमपूज्य १०८ श्री विद्यासागर जी महाराज के हृदय को अनिर्वचनीय पीड़ा से भर दिया। उनके व्याकुल नेत्र एक ऐसे स्वाध्यायशील योग्य विद्वान् की आतुरता से खोज में लग गये, जो दिगम्बर जैनधर्म के इतिहास और साहित्य के साथ की गयी इस धोखाधड़ी को सर्वमान्य, अखण्डन्य प्रमाणों और युक्तियों के प्रकाश से बेपरदा कर सके, जगजाहिर कर दे, जिससे यह सत्य प्रकट हो जाय कि दिगम्बर-जैनमत तीर्थंकरोपदिष्ट है, अतएव उतना ही प्राचीन है, जितनी तीर्थंकरपरम्परा तथा जिन दिगम्बरग्रन्थों को श्वेताम्बरग्रन्थ या यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने का प्रयास किया गया है, वे दिगम्बरग्रन्थ ही हैं, यापनीयग्रन्थ या श्वेताम्बरग्रन्थ नहीं।

पर्याप्त खोज-बीन के पश्चात् प० पू० आचार्यश्री ने प्रो० (डॉ०) रतनचन्द्र जी जैन, भोपाल को इस कार्य के लिए योग्य समझकर उन्हें ग्रन्थलेखन की प्रेरणा दी। इधर दिगम्बर जैन विद्वानों की प्रतिनिधि संस्था अखिल-भारतवर्षीय दिगम्बरजैन-शास्त्रिपरिषद् ने भी इस आशय का प्रस्ताव पारित किया और प्रो० रतनचन्द्र जी भोपाल से उक्त उद्देश्य को पूरा करनेवाला ग्रंथ लिखने का आग्रह किया। ऐसे ग्रंथ का लेखन धर्मप्रभावना का कितना महान् कार्य है, यह प्रोफेसर साहब स्वयं भी अनुभव कर रहे थे।

दिगम्बरजैनसाहित्य के महान् ग्रंथों को हेत्वाभासों एवं छलवाद के द्वारा यापनीयग्रन्थ घोषित कर दार्शनिक क्षेत्र में मिथ्या प्रचार करने और दिगम्बरजैनधर्म का अवर्णवाद करने को कौन धर्मश्रद्धालु सहन कर सकता है ? प्राचीन दिगम्बर जैन आचार्यों को मनगढ़ंत हेतुओं के द्वारा अर्वाचीन घोषित करना और दिगम्बरजैनधर्म को आचार्य कुंदकुंद के द्वारा विक्रम की छठी शताब्दी में प्रवर्तित बताना इत्यादि बातें किसी भी दिगम्बरजैन के हृदय को भारी आघात पहुँचाये बिना नहीं रह सकतीं। उपर्युक्त मिथ्यावादों एवं उनके पोषक मिथ्या हेतुओं (हेत्वाभासों) का सयुक्तिक, सप्रमाण निरसन प्रो० रतनचन्द्र जी ने इस ग्रन्थ में किया है। लेखक ने अदम्य उत्साह एवं प्रकृष्ट-धर्मश्रद्धा-पूर्वक दस वर्ष के लम्बे समय तक निरंतर अथक परिश्रम इस पुस्तक के लेखन में किया है। उन्होंने दिगम्बरजैन-परम्परा की अतिप्राचीनता सिद्ध करने के लिए दिगम्बरजैन, श्वेताम्बरजैन, वैदिक, बौद्ध और संस्कृत साहित्य के २८५ से अधिक ग्रंथों, अनेक शिलालेखों एवं पत्र-पत्रिकाओं का गहन अनुशीलन कर प्रभूत अकाट्य प्रमाणों का अन्वेषण किया है। ग्रन्थ के लगभग २६०० पृष्ठों के लेखन, अनेक अंशों के पुनर्लेखन, नये तथ्यों के संयोजन और अनावश्यक कथ्यों के वियोजन के अतिरिक्त कम्प्यूटरीकृत पृष्ठों के बहुशः लिपिसंशोधन में उनके द्वारा पर्याप्त श्रम किया गया है। प्रो० रतनचन्द्र जी ने इतिहास, कर्मसिद्धान्त, आचारशास्त्र, न्यायशास्त्र एवं दर्शनशास्त्र के समुद्रों में गहरे गोते लगाकर सत्य के रत्न खोज निकाले हैं, तभी दिगम्बरजैन धर्म के इतिहास और साहित्य के साथ की गयी धोखाधड़ी का पर्दाफाश करने में अत्यन्त सफल हुए हैं। इस महान् श्रम व समय-साध्य कठिन कार्य की पूर्णता दिगम्बर-जैनाचार्य पू० विद्यासागर जी महाराज एवं अनेक मुनिवरों के शुभाशीर्वाद तथा धर्मश्रद्धालु श्रावकों और विद्वज्जनों की शुभकामनाओं से ही संभव हुई है। जिस प्रकार प्रसवोपरांत सुंदरपुत्रोत्पत्ति होने पर माता का प्रसवपीड़ाजन्य कष्ट पुत्रजन्म की महती प्रसन्नता से दबकर विस्मृत हो जाता है, उसी प्रकार प्रोफेसर रतनचन्द्र जी के भी ग्रन्थलेखनजनित कष्ट को ग्रन्थ की पूर्णता से उत्पन्न हुए पारमार्थिक सुख ने भुला दिया है। वस्तुतः प्रोफेसर साहब ने प्रतिपक्षियों द्वारा प्रसूत अनेक कपोल-कल्पनाओं की कपोलकल्पितता का ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर सयुक्तिक उद्घाटन कर मूल दिगम्बर, निर्ग्रंथ धर्म की तीर्थंकरोपदिष्टता एवं परमप्राचीनता स्थापित करते हुए तथा षट्खण्डागम, कसायपाहुड आदि १८ ग्रन्थों को दिगम्बराचार्य-रचित सिद्ध करते हुए महती धर्मप्रभावना का कार्य किया है। प्रो० रतनचन्द्र जी ने इतिहास, साहित्य एवं पुरातत्त्व के प्रामाणिक आधारों से दिगम्बरजैनधर्म को अतिप्राचीन सिद्ध किया है और श्वेताम्बर-सम्प्रदाय दिगम्बरजैन-संघ से तथा यापनीय-सम्प्रदाय श्वेताम्बरसंघ से टूटकर अस्तित्व में आए हैं, यह प्रतिपादित किया है। उन्होंने

सप्रमाण सिद्ध किया है कि कषायपाहुड, षट्खण्डागम, भगवती-आराधना, मूलाचार, तत्त्वार्थसूत्र, सन्मतिसूत्र आदि ग्रन्थ दिगम्बर-आम्नाय के हैं, और इन ग्रंथों के यापनीय अथवा श्वेताम्बर ग्रंथ होने के पक्ष में दिए गए तर्कों का बिन्दुवार पूर्णत: निरसन किया है। प्रोफेसर रतनचन्द्र जी को जैनसाहित्य की इस अद्वितीय महान् सेवा के लिए सम्पूर्ण देश का दिगम्बरजैन समाज तो अनेक साधुवाद देगा ही, साथ ही धरती से वर्तमान साधु समाज का एवं स्वर्ग से स्वर्गस्थ प्राचीन प्रभावक आचार्य भगवन्तों का भी मंगल आशीर्वाद प्राप्त होगा, जो उन्हें भविष्य में भी जैनसाहित्य की ऐसी ही मूल्यवान् सेवा करते रहने की ऊर्जा प्रदान करेगा। लेखक ने ग्रन्थ में विषय का व्यापक प्रस्तुतीकरण कर दिगम्बरजैनसाहित्य में ग्रन्थ को अमर बना दिया है और वैसे ही इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ ने इसके यशस्वी लेखक को भी अमर बना दिया है।

अनादिनिधिन, युक्तियुक्त, सर्वोदयी, लोककल्याणकारी दिगम्बरजैन धर्म एवं दर्शन का जैन कहलानेवाले अपनों के ही द्वारा किए गए एवं किए जा रहे अयुक्तिसंगत अवर्णवाद को देखकर जिनका श्रद्धालु कोमलहृदय उसके अहितकर परिणामों का अनुमान कर काँप गया और जो उन मिथ्या अवर्णवादों के सटीक निरसन के लिए एक उत्कृष्ट प्रामाणिक ग्रन्थ के उद्भव का सपना देख रहे थे, उन प० पू० आचार्य विद्यासागर जी महाराज को आज अपने सपने को साकार देखकर जो प्रसन्नता हो रही होगी वह अनिर्वचनीय है। स्व० पं० दरबारीलाल जी कोठिया के शब्दों में पू० आचार्यश्री में पायी जानेवाली दिगम्बरजैनशासन की प्रभावना की व्यग्रतापूर्ण उत्सुकता उनमें सातिशय प्रभावक पूर्वाचार्य स्वामी समन्तभद्र एवं स्वामी अकलंकदेव की छवि के दर्शन कराती है। उन्हीं वीतरागी संत के शुभाशीर्वाद से जैनसाहित्य की सेवा के लिए जन्मी संस्था श्री 'सर्वोदय जैन विद्यापीठ' इस महान् ग्रन्थ के प्रकाशन का सौभाग्य प्राप्त कर अत्यधिक हर्ष का अनुभव कर रही है।

आशा है जैनाजैन सुधी पाठकगण ग्रन्थ में वर्णित ऐतिहासिक एवं सैद्धान्तिक तथ्यों के आधार पर दिगम्बरजैनधर्म के प्राचीन व प्रामाणिक स्वरूप और उसके लोककल्याणकारी समीचीन पक्ष का परिचय प्राप्त कर अपनी धारणाओं को सम्यक् बनायेंगे तथा संतुष्ट होंगे।

लुहाड़िया सदन, जयपुर रोड
मदनगंज-किशनगढ़, (अजमेर) राजस्थान

मूलचन्द लुहाडिया
निदेशक : सर्वोदय जैन विद्यापीठ

ग्रन्थकथा

ग्रन्थलेखन का निमित्त और प्रेरणास्त्रोत

कभी-कभी ऐसी अप्रत्याशित, अनभिमत घटनाएँ घट जाती हैं, जो न चाहते हुए भी मनुष्य को शुभ कार्य में लगा देती हैं। मेरे मित्र एवं अग्रजतुल्य, सुप्रसिद्ध श्वेताम्बर विद्वान् तथा पार्श्वनाथ विद्यापीठ वाराणसी के भूतपूर्व निदेशक डॉ० सागरमल जी जैन द्वारा **जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय** ग्रन्थ का लिखा जाना ऐसी ही एक घटना है, जिसने मुझे अकस्मात् दिगम्बर, श्वेताम्बर, यापनीय, वैदिक (हिन्दू), बौद्ध एवं संस्कृत साहित्य तथा शिलालेखों और पुरातत्त्व के गहन अनुशीलन में लगा दिया और मेरी लेखनी से इतने शब्द पंक्तिबद्ध करा दिये, जिन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ का रूप धारण कर लिया।

प्राचीन श्वेताम्बराचार्य यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे हैं कि "सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति का विरोधी दिगम्बर-जैन-आम्नाय भगवान् महावीर द्वारा प्रणीत नहीं है। भगवान् महावीर ने तो यह उपदेश दिया था कि अचेल और सचेल दोनों लिंग मुक्ति के मार्ग हैं तथा स्त्री को भी मोक्ष के योग्य बतलाया था और यह भी कहा था कि केवली भगवान् साधारण मनुष्यों की तरह कवलाहार करते हैं। किन्तु वीरनिर्वाण संवत् ६०९ (ई० सन् ८२) में बोटिक शिवभूति नामक श्वेताम्बर साधु ने अपने गुरु आर्यकृष्ण से विद्रोह कर सचेलमुक्ति, स्त्रीमुक्ति एवं केवलि-कवलाहार का निषेध करनेवाला दिगम्बरजैनमत चला दिया।"

यह तो प्राचीन श्वेताम्बराचार्यों की कृपा थी कि उन्होंने दिगम्बरजैनमत को कम से कम इतना प्राचीन मान लिया, उसे और अर्वाचीन घोषित नहीं किया, किन्तु बीसवीं शताब्दी ई० के विख्यात श्वेताम्बरमुनि श्री कल्याणविजय जी ने सन् १९४१ ई० में लिखित **श्रमण भगवान् महावीर** नामक ग्रन्थ में अपने प्राचीन आचार्यों के उपर्युक्त मत को अमान्य करते हुए यह स्थापित करने की चेष्टा की है, कि दिगम्बरजैनमत का प्रचलन विक्रम की छठी शती (पाँचवीं सदी ई०) में दक्षिणभारत के विद्वान् कुन्दकुन्द ने किया था। उनके इस मत को प्रायः सभी श्वेताम्बर मुनियों एवं विद्वानों ने अपना लिया। आश्चर्य तो यह है कि दिगम्बरजैन विद्वान् प्रो० (डॉ०) हीरालाल जी जैन ने भी यह मान्यता स्वीकार कर ली। किन्तु उन्होंने आचार्य कुन्दकुन्द का स्थितिकाल

विक्रम की छठी शताब्दी न मानकर वीरनिर्वाण से लगभग ६५० वर्ष पश्चात् (ई० सन् १२३) अनुमानित किया है।[१]

सुप्रसिद्ध दिगम्बरजैन विद्वान् पं० नाथूराम जी 'प्रेमी' ने ईसवी सन् १९३९ में **अनेकान्त** मासिक में लेख लिखकर एक नई बात सामने रखी कि दिगम्बर जैनों द्वारा मान्य प्रसिद्ध ग्रन्थ **भगवती-आराधना** तथा उसकी **विजयोदया टीका** दिगम्बराचार्यों की कृतियाँ नहीं हैं, अपितु उनकी रचना यापनीय-सम्प्रदाय के आचार्यों द्वारा की गई है। तत्पश्चात् **जैन साहित्य और इतिहास** के द्वितीय संस्करण (सन् १९५६) में उन्होंने **मूलाचार** और **तत्त्वार्थसूत्र** को भी यापनीयग्रन्थ घोषित कर दिया। **यापनीयसम्प्रदाय** जैनों का ही एक सम्प्रदाय था, जिसके साधु दिगम्बरजैन साधुओं के ही समान नग्न रहते थे, मयूरपिच्छी रखते थे और पाणितलभोजी थे, किन्तु उनकी प्रायः सभी मान्यताएँ श्वेताम्बरों के समान थीं। वे मानते थे कि वस्त्रधारण करने पर भी मुक्ति हो सकती है, स्त्री भी स्त्रीशरीर से मोक्ष प्राप्त कर सकती है तथा केवली भगवान् भी मनुष्यों के समान कवलाहार ग्रहण करते हैं। वे श्वेताम्बरों के समान अन्यलिंग (अन्यवेश) एवं गृहिलिंग (गृहस्थवेश) से भी मुक्ति स्वीकार करते थे। प्रेमी जी ने भगवती-आराधना आदि उक्त ग्रन्थों में यापनीयमत के इन सिद्धान्तों का उल्लेख होना बतलाया है।

प्रेमी जी द्वारा भगवती-आराधना को यापनीय ग्रन्थ घोषित किये जाने से मुनि श्री कल्याणविजय जी को एक नई उद्भावना करने का अवसर प्राप्त हुआ। उन्होंने यह उद्भावित किया कि बोटिक शिवभूति ने जिस अचेलमार्ग का प्रवर्तन किया था, वह वस्तुतः यापनीयमत था और **भगवती-आराधना** इसी मत का मूल (प्रथम) ग्रन्थ है। उन्होंने यह कथा भी गढ़ी कि इस मत के दक्षिण में पहुँचने पर दक्षिण-भारतीय कुन्दकुन्द भी इस मत के अनुयायी बने, किन्तु कुछ समय बाद ही वे इससे अलग हो गये और उन्होंने सर्वथा (निरपवाद) अचेलमार्गी दिगम्बरसम्प्रदाय का सूत्रपात किया। मुनि श्री कल्याणविजय जी ने अपना यह मत भगवती-आराधना के ही आधार पर प्रमाणित करने की चेष्टा की है।[२]

प्रेमी जी से ही प्रेरणा प्राप्त कर दिगम्बर जैन विदुषी श्रीमती डॉ० कुसुम पटोरिया ने **यापनीय और उनका साहित्य** नामक ग्रन्थ लिखा, जिसमें उन्होंने उपर्युक्त ग्रन्थों

---

१. देखिए, सन् १९४४ में हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी में सम्पन्न अखिलभारतवर्षीय प्राच्य सम्मेलन के १२ वें अधिवेशन में पठित प्रो० (डॉ०) हीरालाल जी जैन का शोधपत्र '**क्या दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों के शासनों में कोई मौलिक भेद है?**' ('दिगम्बर जैन सिद्धान्त दर्पण'/ अंश १/ पृष्ठ २३/ प्रकाशक-दिगम्बर जैन पंचायत बम्बई/सम्पादक-पं० रामप्रसाद जी शास्त्री)।

२. देखिए, 'श्रमण भगवान् महावीर'/ पृष्ठ २९६।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

के अतिरिक्त सन्मतिसूत्र, हरिवंशपुराण तथा बृहत्कथाकोश, इन तीन दिगम्बरग्रन्थों को भी यापनीयसम्प्रदाय के खाते में डाल दिया। जब इस ग्रन्थ पर श्वेताम्बर विद्वान् माननीय डॉ० सागरमल जी की नजर पड़ी, तब इसने उन्हें और भी अनेक दिगम्बरग्रन्थों को यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने के लिए उत्कण्ठित कर दिया। फलस्वरूप उन्होंने गहन बौद्धिक व्यायाम कर **जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय** नामक बृहद् ग्रन्थ का प्रणयन किया और उसमें दिगम्बरजैन-परम्परा को आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा विक्रम की छठी शती में प्रवर्तित सिद्ध करने का आनुवंशिक धर्म निभाते हुए सोलह दिगम्बरग्रन्थों को यापनीयग्रन्थ घोषित कर दिया, जो इस प्रकार हैं—कसायपाहुड, षट्खण्डागम, भगवती-आराधना, उसकी विजयोदयाटीका, मूलाचार, कसायपाहुडचूर्णिसूत्र, तिलोयपण्णत्ती, पद्मपुराण, वरांगचरित, हरिवंशपुराण, स्वयंभूकृत पउमचरिउ, बृहत्कथाकोश, बृहत्प्रभाचन्द्रकृत तत्त्वार्थसूत्र, छेदशास्त्र, पिण्डछेदशास्त्र एवं प्रतिक्रमणसूत्र। इसके अतिरिक्त मान्य विद्वान् ने तत्त्वार्थसूत्र को श्वेताम्बरग्रन्थ न बतलाते हुए भी उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थपरम्परा में रचित कहकर तत्त्वार्थाधिगमभाष्य-गत मान्यताओं के आधार पर वस्त्रपात्रधारी-सम्प्रदाय का ग्रन्थ सिद्ध करने का उपक्रम किया है। इसी प्रकार सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन को भी इसी परम्परा का आचार्य बतलाया है।

कसायपाहुड आदि १६ दिगम्बरग्रन्थों को यापनीय-आचार्यों द्वारा रचित सिद्ध करने के लिए लेखक ने जिन हेतुओं का अवलम्बन किया है, उनमें से अनेक का तो अस्तित्व ही नहीं है और अनेक हेतु 'हेतु' जैसे दिखते हैं, किन्तु हेतु नहीं हैं, अपितु हेत्वाभास हैं। अतः जब लेखक की उक्त कृति दिगम्बर जैन मुनिवरों और विद्वज्जनों की दृष्टि में आयी, तब उसका अध्ययन कर उनके हृदय गहन पीड़ा से क्षुब्ध हो गये। उनकी अन्तरात्मा ने कहा कि **इस ग्रन्थ में उड़ेले गये मिथ्यावाद के मिथ्यात्व का उद्घाटन किया जाना चाहिए। अन्यथा यथार्थ से अनभिज्ञ अध्येता इस मिथ्यावाद को ही यथार्थ समझ लेंगे और समझते रहेंगे, फलस्वरूप इसकी ही पुष्टि करेंगे, जैसा कि कुछ नवीन ग्रन्थों और पत्रिकाओं में देखा जा रहा है। ऐसा होने देना जिनशासन के अवर्णवाद का अनुमोदन होगा। अपरञ्च, धर्म का नाश, सत्क्रियाओं का विध्वंस तथा समीचीन सिद्धान्त का लोप होने पर मौन रहना सत्यमहाव्रत एवं सत्याणुव्रत का उल्लंघन है। इन अनिष्टों का प्रतीकार मुनि और श्रावक दोनों का धर्म है।** इस भावना से प्रेरित होकर दिगम्बर जैन जगत् के वर्तमान मूर्धन्य आचार्य परमपूज्य विद्यासागर जी महाराज ने, जो उक्त ग्रन्थ को पढ़कर अत्यन्त व्यथित थे, मुझे एक ग्रन्थ लिखने के लिए प्रेरित किया, जिसमें उक्त ग्रन्थ के मिथ्यावाद को सप्रमाण अनावृत कर सत्य के दर्शन कराये जायँ। सराकोद्धारक पूज्य उपाध्याय ज्ञानसागर जी महाराज ने भी मुझे इस कार्य के लिए प्रोत्साहित किया। २ जून १९९८ को मेरठ

(उ० प्र०) में पूज्य उपाध्याय ज्ञानसागर जी महाराज के सान्निध्य एवं प्राचार्य पं० नरेन्द्रप्रकाश जी की अध्यक्षता में अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्रिपरिषद् का ७४ वाँ अधिवेशन सम्पन्न हुआ। उसमें शास्त्रिपरिषद् ने एक प्रस्ताव (क्रमांक ३) पारित कर मुझसे उपर्युक्त उद्देश्य को पूर्ण करनेवाला ग्रन्थ लिखने का आग्रह किया। मेरे मन में भी उक्त ग्रन्थ का प्रतिवाद लिखने की इच्छा मचला करती थी। अतः मैंने परमपूज्य आचार्य विद्यासागर जी एवं पूज्य उपाध्याय ज्ञानसागर जी के आदेशों एवं शास्त्रिपरिषद् के आग्रह को सहर्ष शिरोधार्य कर लिया। इस विषय में विशेष बात यह है कि मेरा मन परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी के प्रति सुदीर्घकाल से असीम श्रद्धा और भक्ति से अभिभूत है। इसलिए उनकी इच्छा और प्रेरणा ने मन को इस प्रकार छुआ कि ग्रन्थलेखन की इच्छा ने लौहसंकल्प का रूप धारण कर लिया।

सन्दर्भग्रन्थों की उपलब्धि का अतिशय

कार्य अत्यन्त कठिन था, क्योंकि इसे सम्पन्न करने के लिए विस्तृत, गहन एवं सूक्ष्म अध्ययन-चिन्तन-मनन की आवश्यकता थी। न केवल दिगम्बर, श्वेताम्बर और यापनीय साहित्य का व्यापक अध्ययन अपेक्षित था, अपितु वैदिक और बौद्ध साहित्य तथा अभिलेखों एवं पुरातत्त्व का अनुशीलन भी जरूरी था। क्योंकि यह कार्य न तो किन्हीं दार्शनिक तत्त्वों के स्वरूप, लक्षण, परिभाषाओं या भेदोपभेदों के वर्णन से सम्बद्ध था, न किसी इतिहास या चरित के लेखन से और न किसी ग्रन्थ की समीक्षा या विविध दर्शनों के तुलनात्मक अनुशीलन से, अपितु यह कार्य सत्य को झुठलानेवाले मिथ्या हेतुओं को मिथ्या सिद्ध करने के लिए अखण्ड्य प्रमाणों और युक्तियों की खोज से सम्बद्ध था, जो उपर्युक्त विभिन्न साहित्यों, अभिलेखों एवं पुरातत्त्व के विस्तृत-गहन-सूक्ष्म अध्ययन, अभीक्ष्ण चिन्तन-मनन एवं विज्ञों के साथ परामर्श से ही संभव था।

सत्य का अपलाप करने के लिए अधिक परिश्रम की आवश्यकता नहीं होती। एक हेत्वाभास के द्वारा भी बड़े से बड़े सिद्धान्त की सत्यता के विषय में सन्देह पैदा किया जा सकता है, किन्तु उस सन्देह को दूर करना, अर्थात् सत्य की सत्यता सिद्ध करना आसान काम नहीं है। इसके लिए अनेक अखण्ड्य युक्तियों और तटस्थ प्रमाणों का प्रस्तुतीकरण आवश्यक होता है, तब कहीं उसके विषय में उत्पन्न किये गये सन्देह का उन्मूलन संभव होता है। महासती सीता के सतीत्व के विषय में एक मामूली आदमी ने बड़ी आसानी से सन्देह उत्पन्न कर दिया था, किन्तु उसे मिटाने के लिए सीता जी को अग्निपरीक्षा जैसा सर्वस्वीकार्य प्रमाण देना पड़ा था। मुझे सौंपा गया कार्य इसी प्रकृति का था। **यापनीयपक्षधर विद्वानों ने दिगम्बरपरम्परा को अर्वाचीन**

तथा दिगम्बरग्रन्थों को यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने के लिए जिन तथ्यों की सत्यता का अपलाप किया है, उनकी सत्यता सिद्ध करने के लिए जैन-जैनेतर साहित्य, अभिलेखों तथा पुरातत्त्व से सर्वस्वीकार्य, अखण्ड्य प्रमाणों एवं युक्तियों का अन्वेषण करना ही इस कार्य में अपेक्षित था। अतः यह दुष्कर था। तथापि जिनशासन एवं परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी के प्रति मेरी असीम भक्ति ने मुझे ऐसा साहस प्रदान किया कि मैं इसे सम्पन्न करने के लिए कृतसंकल्प हो गया।

मैंने पं० नाथूरामजी प्रेमी के **जैनसाहित्य और इतिहास**, श्रीमती डॉ० कुसुम पटोरिया के **यापनीय और उनका साहित्य**, डॉ० सागरमल जी के **जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय**, मुनि श्री कल्याणविजय जी के **श्रमण भगवान् महावीर**, आचार्य हस्तीमल जी-कृत **जैनधर्म का मौलिक इतिहास** (भाग १, २, ३ एवं ४), मुनि श्री नगराज जी-कृत **आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन** (खण्ड १, २), पं० सुखलाल जी संघवी-विवेचित **तत्त्वार्थसूत्र** (विवेचनसहित), पं० दलसुख जी मालवणिया की **न्यायावतार-वार्तिकवृत्ति** की **प्रस्तावना**, मुनि श्री विजयानन्द-सूरीश्वर 'आत्माराम'-कृत, **तत्त्वनिर्णय-प्रासाद**, मुनि श्री सागरानन्दसूरीश्वर-कृत **तत्त्वार्थकर्तृ-तन्मतनिर्णय,** उपाध्याय मुनि श्री आत्माराम जी-कृत **तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम-समन्वय** इत्यादि ग्रन्थों एवं प्रो० (डॉ०) हीरालाल जी जैन के विभिन्न लेखों, पं० दलसुख जी मालवणिया के लेख **'क्या बोटिक दिगम्बर हैं?'** (जैन विद्या के आयाम : ग्रन्थाङ्क २), प्रो० एम० ए० ढाकी के लेख 'The Date of Kundakundācārya' (Aspects of Jainology, Vol. III) तथा डॉ० के० आर० चन्द्र के लेख **'षट्प्राभृत के रचनाकार और उसका रचनाकाल'** (श्रमण / अक्टूबर-दिसम्बर १९९७) का गहन एवं सूक्ष्म अध्ययन किया और उनका प्रत्युत्तर लिखने हेतु आवश्यक साहित्य जुटाने के प्रयत्न में लग गया। और इसे जिनशासन तथा परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज के आशीर्वाद का ही चमत्कार कहना चाहिए कि मुझे आवश्यक साहित्य अप्रत्याशितरूप से यथाशीघ्र मिलता गया। मिलने का प्रसंग अतिरोचक है। **जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय** ग्रन्थ का अध्ययन करते समय मैंने देखा कि उसमें षट्खण्डागम को, मानुषियों में संयतगुणस्थान के प्रतिपादक सत्प्ररूपणा-सूत्र क्र. ९३ के आधार पर, स्त्रीमुक्तिसमर्थक यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। 'मानुषियों में संयतगुणस्थान-प्रतिपादक **संजद** (संयत) शब्द मूलतः उक्त सूत्र में है या नहीं, कहीं वह लिपिकार की भूल से तो उल्लिखित नहीं हो गया है?'— इस विषय पर आज से लगभग ६४ वर्ष पूर्व (सन् १९४३-४४ में) दिगम्बरजैन विद्वानों के बीच गम्भीर शास्त्रार्थ हुआ था। उसके बाद भी यह विषय कई वर्षों तक जैन पत्र-पत्रिकाओं में चर्चा का विषय बना रहा। इसकी धुँधली स्मृति मेरे मस्तिष्क में विद्यमान थी। एक दिन मैं जैनजगत् के सुप्रसिद्ध विद्वान् एवं स्वतंत्रतासेनानी माननीय

पं० वंशीधर जी व्याकरणाचार्य, बीना (म.प्र.) के अभिनन्दनग्रन्थ (सरस्वती-वरदपुत्र पं० बंशीधर व्याकरणाचार्य अभिनन्दनग्रन्थ) का अवलोकन कर रहा था। उसमें पण्डित जी के एक पुराने लेख **'षट्खण्डागम में 'संजद' पद पर विमर्श'** पर मेरी दृष्टि गयी। मैं उसे तुरन्त पढ़ने लगा। उसमें सुविख्यात जैन विद्वान् प्रो० (डॉ०) हीरालाल जी जैन के एक विवादास्पद शोध-आलेख **'क्या दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों के शासनों में कोई मौलिक भेद है?'** का उल्लेख किया गया था, जिसमें प्रोफेसर सा० ने यह प्रतिपादित किया था कि श्वेताम्बर-आगमों के समान दिगम्बर-आम्नाय के प्राचीन ग्रन्थों में भी सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति मान्य थीं। इस आलेख पर दिगम्बरजैन विद्वानों में तीखी प्रतिक्रिया हुई थी और लम्बे समय तक उसके पक्ष-विपक्ष में वाद-विवाद चलता रहा था। उक्त आलेख के विरोध में विद्वानों ने जो मत प्रकट किये थे, उनका संग्रह **दिगम्बर जैन सिद्धान्त दर्पण** नाम से तीन भागों में प्रकाशित हुआ था। ये तीनों भाग व्याकरणाचार्य जी के पास भेजे गये थे, ऐसा उनके उक्त लेख में उल्लेख था। यह पढ़ कर मेरे मन में आशा की ज्योति जगी। मन ने कहा उक्त तीन संग्रहों में अवश्य ही मेरे प्रयोजन की सामग्री तथा सामग्री को उपलब्ध करानेवाले सूत्र हस्तगत हो सकते हैं। मन को यह विश्वास भी हुआ कि ये तीनों संग्रह अभी भी व्याकरणाचार्य जी के पुस्तकालय में मौजूद हो सकते हैं।

व्याकरणाचार्य जी के परिवार से मैं सुपरिचित था। उनके ज्येष्ठ सुपुत्र श्री विभवकुमार जी कोठिया अब घर के मुखिया हैं। उन्हीं के साथ व्याकरणाचार्य जी के भतीजे सुप्रसिद्ध जैन विद्वान् न्यायाचार्य डॉ० दरबारीलाल जी कोठिया भी रहते थे। मैं तुरन्त बीना दौड़ा गया और माननीय न्यायाचार्य जी एवं श्री विभवकुमार जी को अपना प्रयोजन बतलाते हुए व्याकरणाचार्य जी के पुस्तकालय से कुछ आवश्यक ग्रन्थ ढूँढ़ने और उन्हें साथ ले जाने की अनुमति माँगी। दोनों महानुभावों ने सहर्ष अनुमति दे दी। मैं उनके पुस्तकालय में जाकर छानबीन करने लगा। चार-पाँच पुस्तकें उठाने के बाद मैं हर्ष से उछल पड़ा। जिन **दिगम्बर जैन सिद्धान्त दर्पण** नामक तीन ग्रन्थों को मैं चाहता था, वे वहाँ एक साथ मौजूद थे। मैंने उन्हें उठा लिया और पन्ने पलटकर उत्सुकता से देखने लगा। ज्यों-ज्यों पन्ने पलटता जाता था, मेरा हर्ष संयम खोता जाता था। जो सामग्री मुझे आवश्यक थी, उसमें से बहुत सी उनमें उपलब्ध थी। उनमें दिगम्बरजैन, श्वेताम्बरजैन, वैदिक (हिन्दू) एवं बौद्ध साहित्य के उन सन्दर्भों का उल्लेख था, जिनसे दिगम्बरपरम्परा पर प्रकाश पड़ता है और प्रो० (डॉ०) हीरालाल जी जैन ने षट्खण्डागम में जो सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति एवं केवलिभुक्ति का विधान बतलाया है, वह मिथ्या सिद्ध होता है। उन्हें मैंने सम्हाल कर रख लिया और पुनः एक-एक ग्रन्थ उठाकर देखने लगा। देखते-देखते मुझे अन्य अनेक उपयोगी ग्रन्थ भी प्राप्त

हुए, जिनमें **सिद्धान्तसमीक्षा** के तीन भाग एवं **अनेकान्त** मासिक के अनेक पुराने अंक प्रमुख थे। **सिद्धान्तसमीक्षा** में वेदवैषम्य को लेकर प्रो० (डॉ०) हीरालाल जी एवं सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री आदि विद्वानों के बीच हुए वादों का संग्रह है। तथा 'अनेकान्त' के अंकों में भगवती-आराधना, मूलाचार, तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थों पर शोधात्मक लेख तथा यापनीयसम्प्रदाय के विषय में विशेष ज्ञातव्य उपलब्ध हैं।

आवश्यक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मिल जाने से मैं बहुत प्रसन्न था और पं० वंशीधर जी व्याकरणाचार्य की श्रुतभक्ति एवं उनके सुपुत्र विभवकुमार जी की पितृभक्ति देखकर गद्गद था। व्याकरणाचार्य जी ने छोटे से छोटे ग्रन्थ को भी जीवनपर्यन्त कितना सहेज कर रखा और उनके पुत्र ने पिता के स्वर्गारोहण के पश्चात् उन्हें इधर से उधर नहीं होने दिया, अपितु पिता के समान ही विनयपूर्वक सम्हाल कर रखा, यह श्रुतभक्ति और पितृभक्ति का अपूर्व उदाहरण है।

उक्त ग्रन्थों के बिना प्रस्तुत ग्रन्थ का लिखा जाना नितान्त दुष्कर होता। इनकी उपलब्धि से मेरे साध्य की सिद्धि का मार्ग प्रशस्त हुआ। इस कारण मैं आदरणीय व्याकरणाचार्य जी एवं उनके सुपुत्र श्री विभवकुमार जी तथा डॉ० दरबारीलाल जी कोठिया के प्रति अपनी असीम कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

उपलब्ध साहित्य का अध्ययन कर सर्वप्रथम मैंने उन श्वेताम्बरीय ग्रन्थों की सूची बनाई, जिनमें दिगम्बरपरम्परा की प्राचीनता सिद्ध करनेवाले और षट्खण्डागम में स्त्रीमुक्ति आदि के विधान की मान्यता को मिथ्या साबित करनेवाले उल्लेख विद्यमान हैं। सौभाग्य से मैं वाराणसी के प्रसिद्ध श्वेताम्बर-शोध-संस्थान पार्श्वनाथ विद्यापीठ में निर्मित हो रहे जैन विश्वकोश के सम्पादकमण्डल का सदस्य था। इस प्रसंग में मुझे शीघ्र वाराणसी जाने का अवसर प्राप्त हुआ। वहाँ मैंने दस दिन रहकर श्वेताम्बर-साहित्य से उपर्युक्त सन्दर्भ ढूँढ़े और उनकी छाया-प्रतिलिपि करवाकर ले आया। कुछ समय बाद पुनः वहाँ जाने का अवसर आया और पुनः कुछ नये सन्दर्भ ढूँढ़कर उनकी छाया-प्रतिलिपि हस्तगत की। इस प्रकार दोनों बार के प्रयास में कम से कम एक हजार पृष्ठों का संग्रह मेरे पास हो गया।

विस्मयोत्पादक रोचक संयोग

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण विस्मयोत्पादक, रोचक संयोग का उल्लेख करना आवश्यक है। उपर्युक्त 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' ग्रन्थ के लेखक माननीय डॉ० सागरमल जी जैन मेरे अग्रजतुल्य एवं अच्छे मित्र हैं। सन् १९७२ में जब मैं रीवा (म.प्र.) से स्थानान्तरित होकर शासकीय हमीदिया स्नातकोत्तर महाविद्यालय, भोपाल के संस्कृत विभाग में आया, तब डॉक्टर सागरमल जी वहाँ दर्शनविभाग के अध्यक्ष थे। उन्होंने

साधर्मी बन्धु के नाते समुचित वात्सल्यभाव दर्शाया और मेरी अनेक प्रकार से सहायता की। शीघ्र ही हम अच्छे मित्र बन गये। वे मुझसे आयु में ज्येष्ठ हैं, अतः मैं उनका अग्रजवत् सम्मान करने लगा। उनके साथ में कई बार अखिल भारतीय प्राच्य सम्मेलनों और अन्य विद्वत्संगोष्ठियों में गया और हम लोग एक ही कमरे में साथ-साथ ठहरे। उन्होंने पी-एच० डी० उपाधि के लिए मेरे शोधप्रबन्ध की रूपरेखा बनवाई और यथोचित मार्गदर्शन किया। उपाधि उपलब्ध हो जाने पर मेरा शोधप्रबन्ध '**जैनदर्शन में निश्चय और व्यवहार नय : एक अनुशीलन**' भी उन्होंने पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी से प्रकाशित कराया और अपने प्रधान-सम्पादकत्व में निर्मित होनेवाले **जैनविश्वकोश** के एक विभाग का सम्पादक भी मुझे नियुक्त कराया। दैवयोग से उनके उक्त विवादास्पद ग्रन्थ 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' को लेकर उन्हीं से असहमति व्यक्त करने और उसमें प्रतिपादित मतों को अयुक्तिमत् और अप्रामाणिक सिद्ध करने का मौका उपस्थित हो गया। यह आश्चर्यजनक और रोचक बात थी।

डॉक्टर सा० के साथ मेरी घनिष्ठता से मेरे साथी भी अवगत थे। अतः जब उन्हें पता चला कि डॉक्टर सा० द्वारा लिखित ग्रन्थ के प्रतिवाद का कार्य मुझे सौंपा गया है, तब उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उनके मन शंका से ग्रस्त हो गये कि डॉक्टर सा० के साथ इतनी घनिष्ठता होने के कारण मैं उनके दिगम्बरत्व-विरोधी प्रतिपादनों का दृढ़ता और साहस से प्रतिवाद नहीं कर पाऊँगा। मित्रता भंग होने के भय से डर-डर कर लुंज-पुंज भाषा और दबे-दबे स्वर में ही कुछ प्रतिकूल बातें करने की हिम्मत कर सकूँगा। अतः उन्होंने प्रचार शुरू कर दिया कि उक्त ग्रन्थ के प्रतिवाद का कार्य उपयुक्त व्यक्ति को नहीं सौंपा गया। फलस्वरूप मुझे अनेक व्यक्तियों के समक्ष सफाई देनी पड़ी कि हमारी मैत्री किसी स्वार्थ पर नहीं, अपितु सत्यप्रियता के समानशील पर आश्रित है। अतः मैं सत्य का ही उद्घाटन करूँगा, और यदि कर सका, तो डॉक्टर सा० भी उसका अभिनन्दन करेंगे, इसका मुझे पूर्ण विश्वास है। इससे हमारी मैत्री पुष्ट ही होगी, क्षीण नहीं।

जब मान्य डॉ० सागरमल जी को यह बात ज्ञात हुई कि मुझे उनके ग्रन्थ के प्रतिवाद का कार्य सौंपा गया है, तब उन्हें कोई आश्चर्य नहीं हुआ, बल्कि प्रसन्नता हुई। वस्तुतः उन्होंने एक बार मुझसे कहा भी था कि "मैं चाहता हूँ कि कोई दिगम्बर विद्वान् उनके ग्रन्थ का प्रत्युत्तर लिखे।" अतः उन्होंने मुझे प्रत्युत्तरलेखन का कार्य सौंपे जाने का स्वागत किया और जब मैंने पार्श्वनाथ विद्यापीठ में और भी कई आवश्यक ग्रन्थों के अवलोकन की इच्छा प्रकट की, तब उन्होंने मुझे उसकी विशेष सुविधाएँ उपलब्ध करायीं।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

आभार

डॉ० सागरमल जी-कृत 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय', 'गुणस्थानसिद्धान्त : एक विश्लेषण' और 'जैनधर्म की ऐतिहासिक विकासयात्रा' ग्रन्थ तथा उनके अभिनन्दन-ग्रन्थ (डॉ० सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ) में संकलित उनके लेख पढ़कर मुझे इतिहास, पुरातत्त्व और सिद्धान्त-सम्बन्धी अनेक जानकारियाँ प्राप्त हुई हैं। श्वेताम्बरसाहित्य में दिगम्बरजैन-परम्परा की उत्पत्ति के विषय में प्राचीन और अर्वाचीन मान्यताएँ क्या हैं, 'अचेल', 'निर्ग्रन्थ', 'नाग्न्य' आदि शब्दों की क्या-क्या व्याख्याएँ की गई हैं, दिगम्बराचार्य-कृत ग्रन्थों को श्वेताम्बर अथवा यापनीय आचार्यों द्वारा रचित मानने के श्वेताम्बरमान्य आधार (हेतु) क्या हैं, इत्यादि बातों का बोध उक्त ग्रन्थों के अनुशीलन से हुआ है। तथा इन बातों की युक्तिमत्ता और प्रामाणिकता के परीक्षण के लिए मुझे दिगम्बर-जैन, श्वेताम्बरजैन, वैदिक (हिन्दू) और बौद्ध सम्प्रदायों के विपुल साहित्य, पुरातत्त्व-विषयक ग्रन्थ एवं अभिलेखों को पढ़ने का अवसर मिला है। इसके अतिरिक्त उनका उपर्युक्त विवादास्पद ग्रन्थ मेरे लिए विश्व के परमयशस्वी, बहुश्रुत, वीतराग, निर्ग्रन्थमुनि, परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी के प्रचुर विश्वास, वात्सल्य, आशीर्वाद एवं सान्निध्य की प्राप्ति में निमित्त बना है तथा प्रस्तुत ग्रन्थ को लिखकर मैं दिगम्बरजैन-परम्परा के इतिहास एवं साहित्य के विषय में मान्य श्वेताम्बर मुनियों एवं विद्वानों ने जो भ्रान्तियाँ उत्पन्न की हैं, उनका सप्रमाण-सयुक्तिक निराकरण करने का प्रयत्न कर सका हूँ। एतदर्थ मैं माननीय डॉ० सागरमल जी का आभारी हूँ।

पूज्य मुनि श्री समयसागर जी, पूज्य मुनि श्री योगसागर जी एवं पूज्य मुनि श्री क्षमासागर जी को जब यह ज्ञात हुआ कि मैं परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी की प्रेरणा से प्रस्तुत ग्रन्थ लिख रहा हूँ , तब वे बहुत प्रसन्न हुए और ग्रन्थ की अत्यन्त आवश्यकता बतलाते हुए उन्होंने मेरी सफलता के लिए आशीष प्रदान किया। पूज्य मुनि श्री सुधासागर जी ने भी जयपुर-प्रवास (जनवरी, २००० ई०) के समय इस कार्य की सिद्धि हेतु मुझे प्रचुर आशीर्वाद दिया और आश्वस्त किया कि मुझे ग्रन्थलेखन हेतु जिन ग्रन्थों की आवश्यकता हो, उन्हें बतलाऊँ, वे तुरन्त मेरे पास भिजवा देंगे। और उन्होंने मेरे निवेदन पर हरिवंशपुराण और जयधवलाटीका-सहित कसायपाहुड के पाँच भाग मेरे पास शीघ्र भिजवा दिये। भोजपुर-चातुर्मास (सन् १९९९ ई०) के अवसर पर पूज्य मुनि श्री प्रमाणसागर जी ने अपने आशीर्वाद के साथ मुझे भगवती-आराधना की विजयोदयाटीका भी उपलब्ध करायी, जो अत्यन्त आवश्यक थी और दुर्लभ थी। उनसे अनेक जिज्ञासाओं का समाधान भी मैं समय-समय पर प्राप्त करता रहा। उन्होंने कुण्डलपुर में आचार्य श्री विद्यासागर जी एवं मुनि श्री अभयसागर जी के साथ प्रस्तुत ग्रन्थ के कुछ अध्याय भी सुने और सराहे हैं। उनकी परार्त्तध्यानहारिणी,

वात्सल्यमयी, मृदु प्रकृति ने मुझे बहुत सम्बल प्रदान किया है। इस हेतु मैं इन सभी गुरुओं के प्रति अपनी कृतज्ञता एवं भक्ति निवेदित करता हूँ।

और पूज्य मुनि श्री अभयसागर जी के विषय में क्या कहूँ! वे तो एक चेतन-विश्वविद्यालय हैं। जैन-जैनतर धर्म, दर्शन, साहित्य, इतिहास, पुरातत्त्व, शिल्प, सभी से उनका गहन परिचय है। किस विषय पर कौनसा ग्रन्थ, किसने लिखा है, कब, कौन व्यक्ति उसे उपलब्ध करा सकता है, इसकी सारी जानकारी उन्हें होती है। शोधप्रविधि के वे मर्मज्ञ हैं। स्वयं अध्ययनरत रहते हैं और दूसरों के अध्ययन और शोध का मार्ग प्रशस्त करते हैं। वे अनुसन्धित्सुओं को शोधविषय भी सुझाते हैं और शोधनिर्देशकों का परिचय भी देते हैं, साथ ही शोधविषय से सम्बन्धित दुर्लभ से दुर्लभ ग्रन्थ जहाँ से भी संभव होता है, मँगाकर उपलब्ध कराते हैं। वे स्वभाव से मृदु और परोपकारी हैं। मेरे कार्य में उन्होंने अनिर्वचनीय साहाय्य किया है। मुझे दिगम्बरजैन, श्वेताम्बरजैन, वैदिक और बौद्ध मतों के ऐसे ग्रन्थों की आवश्यकता थी, जो बाजार में अनुपलब्ध थे, वे किसी व्यक्ति के पास या पुस्तकालय में ही प्राप्त हो सकते थे, किन्तु मुझे उस व्यक्ति या पुस्तकालय का पता लगाना सम्भव नहीं था। यदि पता लग भी जाता, तो उसे प्राप्त करना दुष्कर था, क्योंकि वृद्धावस्था, मधुमेहग्रस्त देह और समयाभाव के कारण भोपाल से बाहर की यात्रा करना तथा वहाँ जाकर ठहरना, भोजन आदि की अनुकूल व्यवस्था बनाना मेरे लिए टेढ़ी खीर थी। फिर वहाँ जाने पर पुस्तक का स्वामी छायाप्रतिलिपि कराने तक की अवधि के लिए भी पुस्तक देने के लिए राजी हो जाय, इसकी गारण्टी नहीं थी। एक-दो परिचितों के पास किसी पुस्तक के होने की संभावना दिखी, तो उन्हें पत्र लिखा, किन्तु उनका पत्रोत्तर पाने योग्य मेरे पुण्य का उदय नहीं हुआ।

सन् २००० के अक्टूबर मास में, जब मैं आचार्यश्री को प्रस्तुत ग्रन्थ के आरंभिक अध्याय सुनाने के लिए सर्वोदयतीर्थ अमरकंटक (शहडोल, म.प्र.) गया, तब पूज्य अभयसागर जी महाराज के पास कुछ ऐसे ग्रन्थ दिखाई दिये, जिनकी मुझे तलाश थी। मैं उन्हें ललचाई नजरों से देखने लगा। मुनिश्री मेरे मनोभाव को ताड़ गये। उन्होंने तुरन्त कहा-"यदि आपको इनकी जरूरत हो तो ले जाइये।" अन्धा क्या चाहे? दो आँखें। मैंने तुरन्त हाथ पसार दिये और मुनिश्री ने वे ग्रन्थ मेरे हाथों पर रखते हुए कहा-"आपको और भी जिन ग्रन्थों की आवश्यकता हो, उसकी सूची मुझे दे दीजिए।" मुझे जिन ग्रन्थों की उस समय आवश्यकता थी, उनके नाम लिखकर दे दिए। कुछ समय बाद वे ग्रन्थ मेरे घर पहुँच गये। फिर फरवरी २००१ में कुण्डलपुर के ऐतिहासिक पंचकल्याणक एवं गजरथ महोत्सव में पहुँचने पर मुनिश्री ने दिगम्बर-श्वेताम्बर-साहित्य से भरे हुए दो कार्टून मेरे कमरे पर पहुँचवा दिये, जो लिखे जा रहे ग्रन्थ के लिए

बहुत उपयोगी थे। उसके बाद मैं समय-समय पर दुर्लभ ग्रन्थों के नाम मुनिश्री के पास भेजता रहा और वे भारत का कोना-कोना छनवाकर श्वेताम्बर और बौद्ध पुस्तकालयों से दुर्लभ ग्रन्थों की छायाप्रतिलिपि करवाकर और उनकी जिल्द बँधवाकर मेरे पास भिजवाते रहे। मुनिश्री स्वयं भी मेरे ग्रन्थ के विषय से सम्बन्धित नये-नये ग्रन्थ की तलाश करते-रहते थे और उसे मँगाकर मेरे पास भिजवा देते थे। और इसे आचार्य श्री विद्यासागर जी के आशीर्वाद का चमत्कार ही कहना चाहिए कि जिस समय, जिस अध्याय का लेखन चल रहा होता था, उस समय उसके लिए अत्यन्त आवश्यक ग्रन्थ मेरे पास अचानक पहुँच जाता था।

पूज्य मुनि श्री अभयसागर जी ने जिन दुर्लभ श्वेताम्बरग्रन्थों की छायाप्रतिलिपियाँ भगीरथ-प्रयत्न से उपलब्ध कर मेरे पास भिजवाईं, उनके नाम इस प्रकार हैं— 'तत्त्वनिर्णयप्रासाद', 'पट्टावलीपराग,' 'श्रमण भगवान् महावीर,' 'तत्त्वार्थकर्तृतन्मतनिर्णय,' 'तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम-समन्वय,' तत्त्वार्थाधिगमसूत्र पर सिद्धसेनगणी एवं हरिभद्रसूरि की टीकाएँ, दिगम्बरग्रन्थों में 'बृहत्कथाकोश,' 'तत्त्वार्थसूत्र के बीजों की खोज', 'दर्शनसार', 'महावीर का अचेलक धर्म', 'स्वामी समन्तभद्र' आदि की छायाप्रतिलिपियाँ तथा 'पुरातन-जैनवाक्य-सूची' (मूलरूप में), प्रसिद्ध श्वेताम्बरकोश 'अभिधान राजेन्द्रकोष' के सात भाग, श्वेताम्बराचार्य श्री हस्तीमल जी-कृत 'जैनधर्म का मौलिक इतिहास' के चार भाग, मुनि श्री नगराज जी-कृत 'आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन' के तीन खण्ड तथा 'धम्मपद-अट्ठकथा,' 'दिव्यावदान' आदि बौद्धग्रन्थ। इन ग्रन्थों से वे प्रमाण उपलब्ध हुए हैं, जिनसे दिगम्बरजैन-परम्परा की प्राचीनता सिद्ध होती है तथा भगवती-आराधना, तत्त्वार्थसूत्र आदि दिगम्बरग्रन्थों का यापनीय या श्वेताम्बर परम्परा का ग्रन्थ होना असिद्ध होता है। इन प्रमाणों के अभाव में प्रस्तुत ग्रन्थ में वह प्रामाणिकता न आ पाती, जो आ गयी है। पूज्य मुनिश्री ने अमरकंटक, कुण्डलपुर, जबलपुर, विदिशा, भोपाल तथा नेमावर में परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी के साथ चार-चार घंटे बैठकर कई दिनों तक प्रस्तुत ग्रन्थ की पाण्डुलिपि का श्रवण और अनुमोदन किया है। अनेकत्र अपने महत्त्वपूर्ण सुझावों से ग्रन्थ के दोषों का निवारण और गुणों का आरोपण कर ग्रन्थ को सँवारा और निखारा है। आवरण के मुखपृष्ठ की रूपरेखा के निर्माण में भी आपने अपना बहुमूल्य योगदान किया है। इस महान् उपकार के लिए मैं पूज्य मुनि श्री अभयसागर जी के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता और भक्ति की अभिव्यक्ति करता हूँ।

पूजनीया आर्यिका श्री अनन्तमति जी, आर्यिका श्री आदर्शमति जी एवं आर्यिका श्री पूर्णमति जी एवं उनके संघ की समस्त आर्यिका माताओं का भी आशीर्वाद ग्रन्थ की निर्विघ्न पूर्णता हेतु मुझे प्राप्त हुआ है। उनके प्रति सादर वन्दना निवेदित करता

हूँ। आदरणीय ब्र. बाबा शान्तिलाल जी, माननीय पं० मूलचन्द्र जी लुहाड़िया तथा पं० रतनलाल जी बैनाड़ा ने भी आचार्यश्री के सान्निध्य में कुण्डलपुर में मेरे ग्रन्थ के कुछ अंश सुने हैं और सराहना कर मेरा उत्साहवर्धन किया है, जिससे मैं इस कठिन कार्य को दत्तचित्त होकर पूर्ण करने में सफल हुआ हूँ। मैं इन सबका आभारी हूँ।

अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्रिपरिषद् के तत्कालीन अध्यक्ष आदरणीय प्राचार्य पं० नरेन्द्रप्रकाश जी जैन ग्रन्थ के शीघ्र-परिसमापन हेतु मुझे निरन्तर प्रेरित करते रहे हैं। शास्त्रिपरिषद् के तत्कालीन महामन्त्री डॉ० जयकुमार जी जैन ने सहयोग का वचन देकर मुझे आश्वस्त किया। मेरे निवेदन पर डॉ० जयकुमार जी ने कोलकाता-वासी श्री शान्तिलाल जी बाकलीवाल के द्वारा षट्खण्डागम के सभी भाग मुझे उपलब्ध कराये तथा शास्त्रिपरिषद् के तत्कालीन कार्याध्यक्ष डॉ० श्रेयांसकुमार जी जैन ने मेरे ग्रन्थलेखन के मार्ग को यथाशक्ति प्रशस्त करने का आश्वासन प्रदान कर मुझे निश्चिन्त किया। इसके लिए मैं इन मित्रों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ।

और प्राकृत-अपभ्रंश के सुप्रसिद्ध मूर्धन्य विद्वान् प्रो० (डॉ०) राजाराम जी जैन ने तो दि० ३०/८/२००१ को आरा (बिहार) से पत्र लिखकर निम्नलिखित शब्दों के रसायन द्वारा मेरे उत्साह का अनिर्वचनीय पोषण किया है—

"मेरे प्रिय भाई,

उस दिन भोपाल में यदि आपसे न मिलता, तो शायद मैं बड़ी भारी भूल करता। वस्तुतः आपके यहाँ आकर ही मैंने आपकी कर्मठ, एकान्त साधना को देखा। एक बीहड़ विषय के चैलेंज को स्वीकार कर उसका सार्थक एवं सटीक उत्तर देने के लिए अपनी साधना हेतु गुफागृह में निवास करनेवाले विद्वानों की मैं पूजा करता हूँ। आपकी साधना की समग्रता तथा एकाग्रता के निर्माण में आपकी शान्तस्वभावी भामती-स्वरूपा धर्मपत्नी एवं पुत्र-पुत्रवधू और बालगोपालों का योगदान भी कम नहीं है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि आपका Project work तीव्रगति से अग्रसर हो रहा है। उसे शीघ्र ही लिखकर प्रकाशित कराइये। आपके लिए अपभ्रंश भाषा की प्राचीनता-सम्बन्धी सामग्री शीघ्र ही प्रेषित करूँगा।

सादर नम्र
राजाराम जैन"

और मान्य प्रोफेसर सा० ने उक्त सामग्री भी शीघ्र प्रेषित कर दी, जो कुन्दकुन्द-साहित्य की प्राचीनता पर प्रश्नचिह्न लगानेवालों को उत्तर देने में अत्यन्त सहायक हुई है। मैं अपने अग्रजतुल्य प्रोफेसर सा० का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

ग्रन्थ उपलब्ध कराने में बुक्स वर्ल्ड, भोपाल (म.प्र.) के स्वामी भाई श्री अनेकान्त जैन का योगदान भी अत्यन्त सराहनीय रहा है। वे इस बात से प्रसन्न थे कि मैं आचार्यश्री की आज्ञा से एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिख रहा हूँ। अत: उन्होंने स्वयं ही आग्रह किया कि मुझे सन्दर्भ हेतु जिन ग्रन्थों की आवश्यकता हो, मैं नि:संकोच कहूँ , वे मँगवाकर देंगे। और मेरे बतलाने पर उन्होंने वैदिक और बौद्ध साहित्य के अनेक ग्रन्थ बाहर से बुलवाकर मेरे पास भिजवा दिये, जिनमें 'महाभारत' के सभी भाग, लगभग सभी हिन्दू पुराण, अशोक के शिलालेख, 'पालि-हिन्दी-शब्दकोश', 'पाइअ-सद्द-महण्णवो', 'सर एम० मोनियर विलियम्स की संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी' आदि महत्त्वपूर्ण हैं। अनेकान्त जी के इस सहयोग के बिना भी प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रामाणिक बनना असम्भव था। अत: मैं उनका भी आभारी हूँ।

मेरे मित्र श्रीयुत श्रीपाल जी 'दिवा' जिनशासन की प्रभावना से सम्बन्धित मेरे कार्यों में सदा सहयोग करते रहते हैं। उन्होंने ग्रन्थ का महत्त्व समझकर इसके शीघ्र प्रणयन के लिये हार्दिक शुभकामनाओं और बाह्य व्यवस्थाओं के द्वारा मेरा मार्ग सुविधामय बनाने का प्रयत्न किया है। उनके प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ।

प्राचीन जैन पाण्डुलिपियों और ग्रन्थों के संग्रह-संरक्षण में संलग्न 'अनेकान्त ज्ञान-मन्दिर बीना, म.प्र.' के अधिष्ठाता ब्रह्मचारी सन्दीप जी, ब्र० राकेश जी भाग्योदयतीर्थ सागर, डॉ० भागचन्द्र जी 'भागेन्दु' दमोह, डॉ० भागचन्द्र जी 'भास्कर' नागपुर, डॉ० शीतलचन्द्र जी जयपुर, डॉ० फूलचन्द्र जी 'प्रेमी' वाराणसी, डॉ० अरुणकुमार जी शास्त्री ब्यावर, डॉ० नरेन्द्रकुमार जी गाजियाबाद (उ.प्र.), डॉ० विजयकुमार जी (सम्पादक-'श्रुतसंवर्धिनी') लखनऊ, डॉ० कपूरचन्द्र जी खतौली, माननीय श्री अशोक जी पाटनी किशनगढ़, श्री महावीरप्रसाद जी माचिसवाले दिल्ली एवं डॉ० श्रीमती अपर्णा चानोदिया भोपाल ने भी विभिन्न ग्रन्थों की प्राप्ति में सहयेाग देकर मेरे मार्ग को प्रशस्त किया है। विभिन्न सज्जनों से ग्रन्थ हस्तगत कर मुझ तक पहुँचाने में श्री निकुंजभाई संघवी अहमदाबाद, श्री अभिनन्दन साँधेलीय पाटन (म.प्र.), सेठ राजेन्द्रकुमार जी जैन विदिशा, श्री जयकुमार 'निशान्त' टीकमगढ़ (म.प्र.), श्री कमलेश जैन 'भाईजान', श्री सतीशकुमार जैन 'नेता' एवं श्री कमलेश 'कक्का' जबलपुर, श्री अनिलकुमार जैन नागपुर (महाराष्ट्र) तथा डॉ० जिनेन्द्रकुमार जी जैन सागर ने भी विशेष सहयोग किया है। एतदर्थ मैं इन सब सहयोगियों का ऋणी हूँ।

भोपालवासी ब्र० श्री शान्तिलाल जी जैन एवं सुश्री डॉ० निशा जैन ने मेरे ग्रन्थ के कम्प्यूटर-मुद्रित अध्यायों को ग्रीष्मकाल (२००६ ई०) में गुना (म.प्र.) में तथा चातुर्मास (२००६ ई०) में आरोन (म.प्र.) में स्थित पूज्य मुनि श्री अभयसागर जी के पास अवलोकनार्थ ले जाने एवं वापस लाने तथा मुनिश्री के आवश्यक परामर्श

मुझ तक पहुँचाने की महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इस हेतु इन दोनों हितैषियों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ।

प० पू० आचार्य श्री विद्यासागर जी की प्रेरणा से संस्थापित **प्रतिभामण्डल** की मुंबई-वासिनी, ब्रह्मचारिणी बहन तेजल ने मेरे आग्रह पर एक श्वेताम्बरकथा गुजराती से हिन्दी में अनुवादित कर उपलब्ध करायी, जो अत्यन्त आवश्यक थी। मैं उनका भी हृदय से आभारी हूँ।

ग्रन्थलेखन के पश्चात् आवश्यक था इसका गुण-दोषावलोकन। मेरा कोई प्रतिपादन दिगम्बरजैन-सिद्धान्त के विरुद्ध तो नहीं है, इस पर किसी सुविज्ञ का दृष्टिपात अत्यन्त आवश्यक था। वर्तमान में ऐसे सर्वमान्य सुविज्ञ एक ही हैं—गुरुवर आचार्य श्री विद्यासागर जी। वे एक ऐसे गुरु के शिष्य हैं, जिन्होंने पं० भूरामल (शान्तिकुमार) शास्त्री के रूप में स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी में जैनसिद्धान्त एवं संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश का गहन अध्ययन किया था और अपनी जन्मजात अद्भुत काव्यप्रतिभा से संस्कृत में **जयोदय** जैसे महाकाव्य की रचना कर संस्कृत महाकाव्यों की प्रसिद्ध **बृहत्त्रयी** (किरातार्जुनीय, शिशुपालवध और नैषधीयचरित) को **बृहच्चतुष्टयी** संज्ञा से विभूषित करने का कीर्तिमान स्थापित किया है तथा जिनकी कृतियों पर तीन दर्जन से भी अधिक शोधकर्त्ता पी-एच० डी०, डी० लिट्० तथा विद्यावारिधि आदि की उपाधियाँ प्राप्त कर चुके हैं। ऐसे यशस्वी दिगम्बरजैनाचार्य परमपूज्य ज्ञानसागर जी महाराज से आचार्य श्री विद्यासागर जी ने चारों अनुयोगों एवं संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश की विधिवत् शिक्षा प्राप्त कर स्वकीय चिन्तन-मनन द्वारा जिनागम की गहराइयों में चिर अवगाहन किया है। उन्होंने भी संस्कृत और हिन्दी में कई शतकों एवं **मूकमाटी** जैसे उत्कृष्ट महाकाव्य की सृष्टि की है। उनकी कृतियाँ भी तीन दर्जन से अधिक शोधकर्त्ताओं को पी-एच० डी० एवं डी० लिट्० इत्यादि उपाधियों से विभूषित कराने का साधन बन चुकी हैं। आचार्यश्री का अध्ययन पाण्डित्यप्रधान नहीं, अपितु गवेषणात्मक है। एक शोधार्थी की सूक्ष्मदृष्टि से वे स्वाध्याय करते हैं और आगम के अनावृत, अनुन्मीलित तथ्यों को प्रकाशित करते हैं। उनकी प्रवचनशैली इस तथ्य का अनुभव कराती है।

आचार्य श्री विद्यासागर जी ने वर्तमान युग में मुनिपद को जो अनिर्वचनीय पूज्यता, श्रद्धास्पदता और प्रामाणिकता प्रदान की है, उसकी चर्चा एक अद्भुत कथा की तरह भारतीय इतिहास में युगों तक होती रहेगी। बाल, युवा, वृद्ध सभी को उनके अभूतपूर्व व्यक्तित्व ने सम्मोहित किया है।

ऐसे सुविज्ञ, सर्वप्रिय और सर्वपूज्य गुरुवर से ही मैंने प्रस्तुत ग्रन्थ के गुणदोषावलोकन की प्रार्थना की और गुरुवर ने भी वात्सल्यभावपूर्वक स्वीकृति प्रदान कर दी। मेरे

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

हर्ष का पारावार न रहा। मैं लगभग ७०० पृष्ठ लेकर अक्टूबर २००० में चातुर्मास के समय सर्वोदयतीर्थ, अमरकंटक (म.प्र.) पहुँच गया। वहाँ आचार्यश्री ने षडावश्यकों के अतिरिक्त अन्य कार्य छोड़कर दिवसकाल में प्रतिदिन, चार-चार घण्टे, पन्द्रह दिन तक, वे ७०० पृष्ठ सुने और बहुत प्रसन्न हुए। अनेक जगह त्रुटियाँ भी बतलाईं और उनका शोधन कराया, कई स्थानों पर नयी युक्तियों और प्रमाणों का समावेश कराया। इस प्रकार उक्त सात सौ पृष्ठ आचार्यश्री द्वारा संशोधित एवं प्रमाणित कर दिये गये। तब मेरे उत्साह का ठिकाना न रहा। आत्मविश्वास में वृद्धि हुई और घर आकर आगे लिखने में जुट गया। फिर ई० सन् २००१ में कुण्डलपुर (दमोह, म.प्र.) के ऐतिहासिक पंचकल्यणक-गजरथ-महोत्सव में गया और वहाँ आचार्यश्री ने अत्यधिक व्यस्त रहते हुए भी सात दिन तक दो-दो घंटे नये अध्यायों की वाचना सुनी। तत्पश्चात् सन् २००१ में ही दयोदयतीर्थ, तिलवाराघाट (जबलपुर, म.प्र.) के चातुर्मास में एक सप्ताह तक दो-दो घंटे, तथा मार्च २००२ में, दो दिन विदिशा (म.प्र.) में, पश्चात् भोपाल (म.प्र.) में सात दिन तक, चार-चार घंटे एकाग्रता से ग्रन्थ के उत्तर अध्यायों का श्रवण किया। उसके बाद जुलाई २००२ में सिद्धोदय तीर्थ, नेमावर (म.प्र.) में भी कुछ पृष्ठ मैंने आचार्यश्री को सुनाये। कुछ उत्तर अध्यायों का श्रवण पूज्य आचार्यश्री ने अप्रैल २००३ में पुनः कुण्डलपुर में किया। शेष अध्यायों की वाचना नवम्बर २००३ में अमरकंटक में, जनवरी २००४ में बिलासपुर (छत्तीसगढ़) में तथा मार्च २००४ में दि० जैन अतिशय क्षेत्र, रामटेक (नागपुर, महाराष्ट्र) में सम्पन्न हुई। इन सभी वाचनाओं में आचार्यश्री ने अनेक त्रुटियों का परिमार्जन कराया और नये तर्क एवं प्रमाणों से ग्रन्थ को सुसज्जित कराकर उसे सर्वथा निर्दोष और पूर्णतः युक्तिमत् एवं प्रामाणिक बना दिया। इसे **जैनपरम्परा और यापनीयसंघ** नाम भी उन्हीं के द्वारा प्रदान किया गया है, जो ग्रन्थ के विषय को भली भाँति द्योतित करता है।

कई-कई दिन तक घंटों बैठकर एकाग्रतापूर्वक ग्रन्थ को सुनने से जो शारीरिक और मानसिक श्रान्ति होती थी, उसकी आचार्यश्री ने कोई परवाह नहीं की। अन्य दर्शनार्थियों को समय न दे पाने से वे क्या सोचते होंगे, इस पर भी उन्होंने कोई ध्यान नहीं दिया। स्वयं के स्वाध्याय और संघ के अध्यापन को भी कुछ समय के लिए निरस्त या विलम्बित कर देने का असन्तोष उनके मन में नहीं व्यापा, क्योंकि उनके अन्तस् में भी यह लगन थी कि दिगम्बर-परम्परा के इतिहास और साहित्य के विषय में भ्रान्ति उत्पन्न करने का जो कुप्रयास किया गया है, उसका निराकरण शीघ्र हो। इस प्रसंग में आचार्यश्री के एक अन्य विशिष्ट गुण पर मेरा ध्यान गया। वह यह कि जिस समय, जिस व्यक्ति को वे चर्चा के लिए समय दे देते हैं, उसका वे दृढ़ता से पालन करते हैं। उस समय वे किसी अन्य व्यक्ति को उसमें विक्षेप

की अनुमति नहीं देते, चाहे वह राजनीतिक या सामाजिक दृष्टि से कितना ही प्रभावशाली क्यों न हो! एक घटना उदाहरणीय है। भोपाल में आचार्यश्री ने मुझे अपराह्न में दो से चार बजे तक का समय ग्रन्थवाचना के लिए दिया था। वाचना चल रही थी। उस समय एक केन्द्रीय मंत्रीमहोदया आचार्यश्री के दर्शनार्थ आयीं। मन्दिर-कमेटी के अध्यक्ष ने दो बार बीच में आकर मंत्रीमहोदया को भीतर ले आने की अनुमति माँगी। किन्तु आचार्यश्री ने दोनों बार मना कर दिया। जब मेरा समय पूरा हुआ, तभी उन्हें बुलाने की अनुमति दी। इस तरह आचार्यश्री ने मेरे ग्रन्थ को बड़ी निष्ठा और एकाग्रता से सुना।

इसे मैं अपना अहोभाग्य, अपने पूर्वकृत पुण्यों के उदय का प्रकर्ष मानता हूँ कि इस ग्रन्थलेखन के निमित्त से मुझ जैसे नगण्य श्रावक को वर्तमान युग के परम-महिमावान्, परमवीतरागी, दिगम्बरमुनि, परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी का इतना नैकट्य प्राप्त हुआ, उनके चरणों में कई दिनों तक कई-कई घंटे बैठने और चर्चा करने का दुर्लभ अवसर सुलभ हुआ, उनका प्रगाढ़ वात्सल्य, और आशीर्वाद प्राप्त करने की दीर्घ काललब्धि मेरे जीवन में आयी। यह मेरी वर्तमान मानवपर्याय की दुर्लभतम उपलब्धि है। इस हेतु मैं परमपूज्य आचार्य विद्यासागर जी के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा एवं भक्ति से नतमस्तक हूँ। उनके प्रति मैं अपनी असीम निष्ठा एवं कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

जैसा कि मैंने पूर्व में लिखा है, प्रत्येक वाचना में पूज्य मुनि श्री अभयसागर जी भी बैठते थे तथा कुण्डलपुर में पूज्य मुनि श्री प्रमाणसागर जी ने भी वाचना का श्रवण किया था। इन दोनों गुरुओं के परामर्शों ने भी ग्रन्थ को निर्दोष और गुणवन्त बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। इनके अतिरिक्त भोपाल में मुझे पूज्य मुनि श्री नमिसागर जी के सम्पर्क में आने का अवसर प्राप्त हुआ। युवा होते हुए भी उनका अध्ययन और चिन्तन-मनन देखकर मैं उनसे बहुत प्रभावित हुआ। उन्होंने मेरे ग्रन्थ के कतिपय अंशों को सुना, तो उन्हें एक-दो त्रुटियों का अनुभव हुआ। दो-तीन वर्षों बाद जब वे कर्नाटक में विहार कर रहे थे, तो वहाँ से उन्होंने सन्देश द्वारा उन त्रुटियों की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट किया, और प्रमाण भिजवाये। प्रमाणों को देखकर मुझे अपनी त्रुटियों का बोध हुआ और मैंने उनका तुरन्त परिहार किया। इस प्रकार मुनि श्री नमिसागर जी की कृपा से भी मेरे ग्रन्थ की त्रुटियों का परिहार हुआ है। एतदर्थ इस मुनित्रयी के प्रति मैं अपनी भक्ति एवं आभार की अभिव्यक्ति करता हूँ।

जब ग्रन्थ लिखा जा चुका था और लिपिसंशोधन चल रहा था, तब अचानक डॉ० एम० डी० वसन्तराज द्वारा लिखित पुस्तक **गुरुपरम्परा से प्राप्त दिगम्बर जैन आगम :**

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

एक इतिहास हस्तगत हुई। उसे पढ़ते समय मेरी दृष्टि इस बात पर गई कि उन्होंने भी भगवती-आराधना के यापनीयग्रन्थ होने की मान्यता को गलत बतलाया है। इससे मेरे मत की पुष्टि होती है, अतः मैंने डॉ० वसन्तराज जी के वचन भी उक्त प्रकरण में उद्धृत किये हैं। मैं उनका भी आभारी हूँ।

श्री माइल्ल धवल ने जिनागम को जानने के लिए प्रमाण और नयों को नेत्रयुगल की उपमा दी है। मेरे विचार से प्राकृत और संस्कृत भी जिनागम के अधिगम के लिए नेत्रयुगल हैं। मैं धन्य हूँ कि मेरे पूज्य पिता पं० बालचन्द्र जी जैन प्रतिष्ठाचार्य एवं पूजनीया माता अमोलप्रभा जी जैन ने मुझे ये दोनों नेत्र उपलब्ध कराये हैं। इस हेतु उन्होंने मुझे घर में ही प्राथमिक शिक्षा देकर सीधे पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी द्वारा स्थापित दिगम्बर जैन संस्कृत महाविद्यालय सागर (म.प्र.) में प्रवेश दिलाया, जहाँ मुझे अत्यन्त श्रेष्ठ गुरुओं से प्राकृत, संस्कृत और जैनधर्म की शिक्षा प्राप्त हुई, और ऐसा जीवनदर्शन मिला, जिसने मेरी प्रवृत्ति को साहित्य-मन्थन कर सत्य के अन्वेषण की ओर उन्मुख कर दिया। इन संस्कृत-प्राकृतरूपी नेत्रों ने ही मुझे परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी जैसे महान् सन्त के द्वारा प्रस्तुत ग्रन्थ-लेखन का कार्य सौंपे जाने योग्य बनाया है, जिससे मैं बहुत सम्मानित हुआ हूँ। इस अहोभाग्य के योग्य बनाने में मेरे पूज्य पिता जी एवं पूजनीया माता जी की ही पुण्यप्रेरित दूरदृष्टि का हाथ है। अतः मैं उनके प्रति अपनी अपार कृतज्ञता और भक्ति निवेदित करता हूँ।

मेरी पूजनीया बड़ी बहनों—स्व० श्रीमती शान्ति जैन एवं स्व० श्रीमती कंचन जैन, पूज्य बड़े भाई पं० कोमलचन्द्र जी जैन एवं प्रिय अनुजद्वय श्री शीलचन्द्र तथा श्री शिखरचन्द्र ने भी मेरे उन्नतिपथ को प्रशस्त करने का विभिन्न प्रकार से यत्न किया है। प्रिय अनुज शीलचन्द्र ने तो अन्य अनेक प्रकार से भी ग्रन्थलेखन में सहयोग किया है। उन्होंने कतिपय ग्रन्थों से आवश्यक सन्दर्भ ढूँढ़कर प्रस्तुत किये, लिपिसंशोधन किया, 'अन्तस्तत्त्व' तैयार किया तथा शब्दसूची भी निर्मित की। इस तरह मेरे कार्यभार को काफी हलका कर दिया। एतदर्थ मैं अपने बड़ों को प्रणाम करता हूँ और छोटों को आशीर्वाद देता हूँ।

मेरी सरलहृदया, धैर्यधना, धर्मानुरागिणी, धर्मपत्नी श्रीमती चमेलीदेवी जैन ने इस ग्रन्थ के लेखन में महान् सहयोग किया है। मेरे परिश्रम को देखते हुए उन्होंने मुझे स्वस्थ रखने का अधिक से अधिक ध्यान रखा है। मेरी व्यस्तता का ख्याल कर आहार-जल, औषधि आदि को समय पर ग्रहण कराने का उत्तरदायित्व उन्होंने स्वयं सँभाला है। इसके अतिरिक्त मेरे साथ बैठकर विभिन्न ग्रन्थों से आवश्यक पाठ ढूँढ़कर मुझे बताने का कार्य भी वे करती रही हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ की बची-खुची लिपिगत

त्रुटियों का अन्वेषण भी उन्होंने ही किया है। पुस्तकालय और अध्ययनकक्ष को व्यवस्थित करना उनका ही दैनिक कार्य है। इस तरह ग्रन्थलेखन में उन्होंने मेरा बहुत हाथ बँटाया है। अग्रजतुल्य प्रो० राजाराम जी ने प्रसिद्ध नैयायिक वाचस्पति मिश्र की पत्नी **भामती** से उनकी तुलना की है, इसे मैं स्वीकार करता हूँ। जिनशासन के अवर्णवाद के प्रतिकार में सहभागिनी बनकर मेरी धर्मपत्नी ने जो धर्म अर्जित किया है, उससे वह स्त्रीपर्याय से छुटकारा पा लेंगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

मेरे बड़े पुत्र-पुत्रवधू चिरंजीव अनिमेष और सौ० संगीता तथा छोटे पुत्र-पुत्रवधू चि० अनुपम एवं सौ० अर्चना ग्रन्थ के शीघ्र समापन और प्रकाशन के लिए बहुत उत्सुक थे। इस हेतु उन्होंने मेरे अध्ययन और लेखन को अधिकाधिक निर्बाध एवं सुविधामय बनाने के लिए हर सम्भव प्रयत्न किया है। उन्होंने मेरे लिए आधुनिक सुविधाओं से सम्पन्न एक अध्ययनकक्ष बनवाया, जिसमें बैठकर मैं व्यवस्थितरूप से अध्ययन-लेखन कर सका हूँ, जिससे मेरे समय और श्रम की काफी बचत हुई है, स्वास्थ्य भी अनुकूल बना रहा। लेखनसामग्री भी वे समय से पहले ही उपस्थित करते रहे हैं। बड़े पुत्र चि० अनिमेष ने दिल्ली से अनेक आवश्यक ग्रन्थ खरीदकर भेजने का भी काम किया है। इस तरह पुत्रों और पुत्र वधुओं ने भी जिनशासन के अवर्णवाद के प्रतीकार में हाथ बँटाकर पुण्य अर्जित किया है, जो निश्चय ही उनके अभ्युदय और निःश्रेयस् का हेतु बनेगा। उनके लिए मेरे हृदय में अगणित आशीर्वाद फल-फूल रहे हैं।

श्री पार्श्वनाथ विद्यापीठ वाराणसी में रहकर मैंने कई दिनों तक ग्रन्थों का अध्ययन किया है। वहाँ के अधिकारियों और कर्मचारियों ने मेरे साथ अत्यन्त सौहार्दपूर्ण व्यवहार किया, मुझे आवास और आहार की अनुकूल व्यवस्था उपलब्ध करायी। वहाँ के व्याख्याता डॉ० श्रीप्रकाश जी पाण्डेय एवं पुस्तकालय प्रभारी श्री विजयकुमार जी, श्री ओमप्रकाश जी एवं श्री राकेश जी ने भी बड़े आदरपूर्वक मुझे ग्रन्थ उपलब्ध कराये तथा आवश्यक अंशों की छायाप्रतिलिपि करके दी। इस सौजन्य के लिए मैं उक्त विद्यापीठ एवं इन सब बन्धुओं के प्रति आभार प्रकट करता हूँ।

भोपालवासी श्री अशोककुमार जी जैन वनक्षेत्रपाल तथा मेरे सम्बन्धी श्री पद्मचन्द्रजी जैन ने भी लिपि संशोधन में मेरी सहायता की है। श्री विकास गोधा ने ग्रन्थ के आवरणपृष्ठगत शिल्प एवं ग्रन्थमुद्रण-सम्बन्धी अनेक उपयोगी सुझाव दिये हैं। मैं इन सब सज्जनों का कृतज्ञ हूँ। मेरे मित्र इंजीनियर श्री धरमचन्द्र जी वाझल्य समय-समय पर एक्युप्रेशरचिकित्सा द्वारा मुझे नीरोग बनाते हुए ग्रन्थलेखन में मेरा सहयोग करते रहे हैं। मैं उनके प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

इस ग्रन्थ का प्रकाशन माननीय श्री अशोक जी पाटनी, आर० के० मार्बल्स, किशनगढ़ (राज०) के उदार आर्थिक सहयोग से सर्वोदय जैन विद्यापीठ, आगरा (उ.प्र.) ने किया है। इस हेतु श्री पाटनी जी एवं विद्यापीठ के न्यासीगण साधुवाद के पात्र हैं। परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी के आशीर्वाद से लिखा गया यह ग्रन्थ इस संस्था से प्रकाशित होनेवाली प्रथम कृति है। यह विद्यापीठ का सौभाग्य है। आशा है प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रकाशन विद्यापीठ की कीर्ति में चार चाँद लगायेगा।

ग्रन्थ का लिप्यङ्कन (कम्पोजिंग) श्री श्रीपाल जी 'दिवा', भोपाल के समता प्रेस में श्री कैलाशचन्द्र राजपूत के द्वारा यत्नपूर्वक, उत्तमरीति से किया गया है। मैं इन दोनों बन्धुओं का भी हृदय से धन्यवाद करता हूँ।

ग्रन्थ के आवरण पृष्ठ की रूपरेखाएँ श्री संजय जैन 'मैक्स' इन्दौर एवं जयपुर प्रिंटर्स जयपुर के स्वामी श्री प्रमोदकुमार जैन ने निर्मित कराकर विचार हेतु उपलब्ध करायीं, तथा हड़प्पा-जिनप्रतिमा के चित्र की उपलब्धि श्री अजितप्रसाद जैन एवं श्री जे० के० जैन दिल्ली के द्वारा तथा लोहानीपुर-जिनप्रतिमा के चित्र की प्राप्ति श्री रतनलाल जी पटना (बिहार) के प्रयत्न से हुई है। इन मित्रों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ। श्री राजेश जैन, राजकुमार स्टूडियो, गंजीपुरा, जबलपुर ने प० पू० आचार्य श्री विद्यासागर जी का भव्य छायाचित्र ग्रन्थ में प्रकाशनार्थ उपलब्ध कराया, इस हेतु मैं उनका भी आभारी हूँ।

ग्रन्थ का मुद्रण दीप प्रिण्टर्स नयी दिल्ली के स्वामी श्री मनोहरलाल जी जैन ने बडी रुचि और निष्ठा से किया है। उन्होंने लिप्यङ्कन-पद्धति के कई दोषों का परिमार्जन भी किया है। आवरणपृष्ठ को अन्तिम रूप भी उनके ही द्वारा दिया गया है। इस मनोहर कार्य के लिए मैं उनके प्रति भी आभार प्रकट करता हूँ।

मैं सन् १९९८ से 'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरा न कोई' की भावना से ग्रन्थलेखन में जुटा रहा हूँ। इन दस वर्षों में मैंने सिर भी ऊपर नहीं उठाया। नींद उतनी ही ली है, जितनी स्वस्थ रहने के लिए जरूरी थी। कभी-कभी उसमें भी कटौती कर दी। मित्रों और सम्बन्धियों से नाता-सा टूट गया। विद्वत्संगोष्ठियों में प्राय: जाना बन्द कर दिया। इसी बीच पूज्य गुरुवर आचार्य श्री विद्यासागर जी एवं अन्य गुरुओं और मित्रों की कृपा से **जिनभाषित** (मासिक) के सम्पादन का उत्तरदायित्व भी इन कन्धों पर आ गया, जिसके प्रथम अंक का लोकार्पण दि० जैन सिद्धक्षेत्र कुण्डलपुर (दमोह, म.प्र.) में बड़े बाबा भगवान् ऋषभदेव की १५०० वर्ष प्राचीन प्रतिमा के प्रथम महामस्तकाभिषेक एवं पंचकल्याणक-गजरथ महोत्सव के ऐतिहासिक अवसर पर परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी एवं उनके विशाल श्रीसंघ की मंगल सन्निधि एवं शुभाशीर्वाद

की छायातले दि० २६ फरवरी २००१ को हुआ था। फिर परमपूज्य आचार्यश्री ने दो चातुर्मासों (सन् २००२ एवं २००३) में प्रतिभामण्डल की ब्रह्मचारिणी बहनों को सर्वार्थसिद्धि एवं स्नातकोत्तर स्तर के संस्कृत-अध्यापन का पुण्यास्पद एवं सुखद कार्य भी सौंप दिया। इन नवीन उत्तरदायित्वों ने ग्रन्थलेखन के लिए उपलब्ध काल का बँटवारा कर लिया, जिससे उसका (काल का) तन दुबला हो गया और उसकी गति द्रुत से विलम्बित हो गयी। इससे ग्रन्थ के पूर्ण होने में अधिक समय लग गया।

इस ग्रन्थ में मैंने दिगम्बरजैन, श्वेताम्बरजैन, वैदिक (हिन्दू) एवं बौद्ध साहित्यों, संस्कृत साहित्य के गद्य-पद्य-नाट्य काव्यों, अभिलेखों (शिलालेखों-ताम्रपत्रलेखों) तथा पुरातत्त्व (प्राचीन जिनप्रतिमाओं) से प्रमाण देकर यह सिद्ध किया है कि ऐतिहासिक दृष्टि से दिगम्बरजैन-परम्परा उतनी ही प्राचीन है जितनी सिन्धुसभ्यता, अर्थात् ईसा से लगभग २४०० वर्ष पुरानी, तथा कसायपाहुड, षट्खण्डागम, भगवती-आराधना, मूलाचार, तत्त्वार्थसूत्र आदि जिन ग्रन्थों को यापनीय-परम्परा या श्वेताम्बर-परम्परा का सिद्ध करने की चेष्टा की गई है, वे सब दिगम्बर आचार्यों के द्वारा ही रचे गये हैं। **जैनपरम्परा और यापनीयसंघ** नामक इस ग्रन्थ में २५ अध्याय हैं, जिनमें कतिपय अध्याय बहुत बड़े हैं। साथ में **ग्रन्थकथा, ग्रन्थसार, अन्तस्तत्त्व** (विषयवर्णनक्रम), **संकेताक्षर-विवरण, प्रयुक्त ग्रन्थों की सूची** तथा **शब्दविशेष-सूची** भी संलग्न हैं। अतएव विशाल होने के कारण इसे तीन खण्डों में प्रकाशित किया गया है।

ग्रन्थ-अनुक्रम

यद्यपि षट्खण्डागम (ईसापूर्व प्रथम शती-पूर्वार्ध) की रचना कसायपाहुड (ईसापूर्व द्वितीय शती-उत्तरार्ध) के बाद हुई है, तथापि उसमें प्रसंगवश कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण विषयों की चर्चा की गई है, जिनकी जानकारी अन्य विवेच्य ग्रन्थों के विषय को समझने के लिए भी पाठकों को प्राथमिकरूप से आवश्यक है। इसलिए षट्खण्डागम का क्रम कसायपाहुड से पहले रखा गया है। इसी प्रकार भगवती-आराधना और उसकी विजयोदया-टीका के कर्त्ता अपराजितसूरि का परस्पर सम्बन्ध होने से अपराजितसूरि से सम्बन्धित अध्याय भगवती-आराधना के पश्चात् रखा गया है।

पादटिप्पणपद्धति

प्रत्येक अध्याय में पादटिप्पणियों की संख्या स्वतन्त्ररूप से अर्थात् १ से आरंभ कर अध्याय के अन्त तक क्रमशः दी गयी है। यदि कोई टिप्पणी बड़ी होने के कारण उसी पृष्ठ पर समाप्त नहीं हो सकी, तो उसका शेषांश अगले पृष्ठ पर रखा गया है। इसी प्रकार किसी पादटिप्पणी का सूचकांक पूर्व पृष्ठ की अन्तिम पंक्ति या उससे पहले की पंक्ति पर आया है, जिसके कारण पादटिप्पणी का उसी पृष्ठ

पर रखा जाना संभव नहीं हुआ, वह पादटिप्पणी उत्तर पृष्ठ पर रखी गयी है। इसके अतिरिक्त यदि किसी पृष्ठ पर एक ही ग्रन्थ के एक ही पृष्ठ की एक से अधिक पादटिप्पणियाँ हैं, तो उन सब पर एक ही (समान) पादटिपण्णी-संख्या दी गयी है। सम्पूर्ण ग्रन्थ का दो-तीन बार कम्प्यूटर-मुद्रण हो जाने के बाद किसी-किसी अध्याय में क्वचित् नयी पादटिप्पणियाँ जोड़ने की आवश्यकता पड़ी है, वहाँ आगे की क्रमांक-व्यवस्था को भंग न करते हुए पूर्वटिप्पणी-क्रमांक के ही उपभेद कर नये टिप्पणी-क्रमांक बना दिये गये हैं, जैसे पूर्वटिप्पणी-क्रमांक यदि ९ है, तो नये टिप्पणी-क्रमांक ९.१, ९.२, ९.३ इत्यादि बनाये गये हैं।

उपसंहार

दस वर्षों तक लगातार ग्रन्थ लिखते रहने और लगभग २६०० पृष्ठों का पाँच-पाँच, छह-छह बार, कुछ अध्यायों का तो दस-दस बार लिपिसंशोधन करते रहने तथा बीच-बीच में कतिपय पुराने अंशों को हटाने और नये अंशों को जोड़ते रहने के व्यायाम से श्रम तो बहुत हुआ, लेकिन श्रान्ति नहीं हुई। जिनशासन के अवर्णवाद के प्रतीकार में डूबा त्रियोग मेरे लिए धर्मध्यान बन गया और उससे जो आनन्द की अनुभूति हुई, उसने मेरे स्वास्थ्य के लिए औषध का काम किया। इसके अतिरिक्त पाण्डुलिपि का वाचन सुनते समय परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी एवं पूज्य मुनि श्री अभयसागर जी ने जिस परमसन्तोष की अभिव्यक्ति की, उसने रसायन बनकर मेरे तन-मन में अपूर्व बल और स्फूर्ति का संचार किया। इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ का लेखन मेरे लिए दैहिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से लाभप्रद सिद्ध हुआ है। यह सुनकर आश्चर्य होगा कि ग्रन्थलेखन की इस दस वर्ष की अवधि में शरीर के किसी भी अंग में एक क्षण के लिए भी पीड़ा की अनुभूति नहीं हुयी। ग्रन्थ अपने उद्देश्य में कहाँ तक सफल रहा है, इसका निर्णय जैन साहित्य और इतिहास के मर्मज्ञ मनीषियों की दृष्टि करेगी। जो दोष दृष्टि में लाये जायेंगे, उनका निराकरण आगामी संस्करण में करने का प्रयास करूँगा।

गुरुचरण-चञ्चरीक
रतनचन्द्र जैन

ए / २, शाहपुरा
भोपाल—४६२०३९, म. प्र.
वीरशासन-जयन्ती
श्रावणकृष्णा १, वि. सं. २०६६
दिनांक ०८. ०७. २००९

ग्रन्थसार

जैसा कि पूर्व में ज्ञापित किया गया है, मान्य श्वेताम्बर मुनियों एवं विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि "दिगम्बरजैनमत तीर्थंकर प्रणीत नहीं है, अपितु छद्मस्थप्रणीत है। वह बहुत प्राचीन भी नहीं है, श्वेताम्बरमत की अपेक्षा बहुत बाद का है। दिगम्बरपरम्परा में बहुमान्य आचार्य कुन्दकुन्द भी बहुत पुराने नहीं है, वे विक्रम की छठी शताब्दी में हुए थे और दिगम्बरजैन-सम्प्रदाय जिन धर्मग्रन्थों को अपना मानता है, उनमें से षट्खण्डागम आदि १८ प्रमुख ग्रन्थ उसके नहीं है, अपितु तत्त्वार्थसूत्र एवं सन्मतिसूत्र श्वेताम्बराचार्यों द्वारा रचित हैं, शेष १६ यापनीय-आचार्यों की कृतियाँ हैं। कसायपाहुड को श्वेताम्बरमुनि श्री हेमचन्द्र विजय जी ने श्वेताम्बरग्रन्थ बतलाया है, जब कि डॉ० सागरमल जी जैन ने यापनीयग्रन्थ। इसी प्रकार तत्त्वार्थसूत्र के विषय में डॉ० सागरमल जी का मत है कि वह न श्वेताम्बरग्रन्थ है, न यापनीयग्रन्थ, बल्कि इन दोनों की मातृपरम्परा में अर्थात् उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा में निर्मित हुआ है।"

मान्य श्वेताम्बर मुनियों और विद्वानों के ये सभी मत प्रमाणसिद्ध नहीं है, अत एव काल्पनिक हैं और इन्हें सत्य सिद्ध करने के लिए उन्होंने जो तर्क या हेतु प्रस्तुत किये हैं, वे भी सभी काल्पनिक हैं। इस प्रकार उपर्युक्त साध्यभूत काल्पनिक मतों का साधक उनका तर्कप्रासाद काल्पनिक सामग्री से निर्मित है। आकाशकुसुम को सत्य सिद्ध करनेवाली हेतुसामग्री भी आकाशकुसुमवत् काल्पनिक ही हो सकती है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में मैंने इन समस्त काल्पनिक हेतुओं की कपोलकल्पितता का प्रमाणों और युक्तियों के द्वारा उद्घाटन कर सिद्ध किया है कि दिगम्बरजैनमत तीर्थंकरप्रणीत है और उतना ही प्राचीन है, जितनी प्राचीन तीर्थंकर-परम्परा है। वैदिकपरम्परा के महाकाव्य एवं इतिहासग्रन्थ 'महाभारत' (५००-१०० ई० पू०) के अनुसार वह द्वापरयुगीन (आज से लगभग ८,६४,००० वर्ष पुराना), विष्णुपुराण के अनुसार प्रथम-स्वायंभुव-मन्वन्तर-कालीन (आज से लगभग ढाई करोड़ वर्ष प्राचीन) और ऐतिहासिक दृष्टि से सिन्धुसभ्यता-जितना (ईसापूर्व २५०० वर्ष) प्राचीन है। वह ऋग्वेद, गौतमबुद्ध और ईसा से पूर्ववर्ती है। आचार्य कुन्दकुन्द भी ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध में उत्पन्न हुए थे और ईसोत्तर प्रथम शताब्दी के पूर्वार्ध तक विद्यमान रहे। तथा षट्खण्डागम

आदि अठारह धर्मग्रन्थ, जिन्हें श्वेताम्बर मुनियों एवं विद्वानों ने श्वेताम्बर और यापनीय आचार्यों द्वारा प्रणीत बतलाया है, वे सब दिगम्बरजैन आचार्यों की कृतियाँ हैं। मैंने ग्रन्थ को तीन खण्डों और पच्चीस अध्यायों में विभाजित किया है। उनमें अपने शोधोद्भूत निष्कर्षों का प्रस्तुतीकरण इस प्रकार किया है—

प्रथम खण्ड

दिगम्बर, श्वेताम्बर, यापनीय संघों का इतिहास

अध्याय १—काल्पनिक सामग्री से निर्मित तर्कप्रासाद

इस अध्याय में उन कपोलकल्पनाओं का वर्णन किया गया है, जिनकी सृष्टि मान्य श्वेताम्बर मुनियों एवं विद्वानों ने अपने पूर्वोक्त काल्पनिक मतों को सिद्ध करने के लिए हेतुरूप में की है। वे इस प्रकार हैं—

१. तीर्थंकरों के सवस्त्र-तीर्थोपदेशक होने की कल्पना। २. बोटिक शिवभूति के दिगम्बरमत-प्रवर्तक होने की कल्पना। ३. बोटिक शिवभूति के यापनीयमत-प्रवर्तक होने की कल्पना। ४. कुन्दकुन्द के दिगम्बरमत-प्रवर्तक होने की कल्पना। ५. कुन्दकुन्द के प्रथमतः यापनीय होने की कल्पना। ६. कुन्दकुन्द के प्रथमतः भट्टारक होने की कल्पना। ७. उत्तरभारतीय सचेलाचेल निर्ग्रन्थसंघ की कल्पना। ८. सचेलाचेल निर्ग्रन्थसंघ के विभाजन से श्वेताम्बर-यापनीय सम्प्रदायों के उद्भव की कल्पना। ९. अचेल एवं सचेल जिनकल्पों के व्युच्छेद की कल्पना। १०. सामान्यपुरुषों के लिए तीर्थंकरलिंग-ग्रहण के निषेध की कल्पना। ११. अचेलत्व के मुख्य और औपचारिक भेदों की कल्पना। १२. सग्रन्थ में निर्ग्रन्थ की कल्पना। १३. मूलसंघ के यापनीयसंघ का पूर्वनाम होने की कल्पना। १४. कुन्दकुन्द-साहित्य में दार्शनिक विकास की कल्पना। १५. शिवमार में शिवकुमार की कल्पना। १६. अनेक दिगम्बरग्रन्थों के यापनीयग्रन्थ होने की कल्पना। १७. गुणस्थानसिद्धान्त के विकास की कल्पना। १८. सप्तभंगी के विकास की कल्पना। १९. यापनीयों द्वारा अर्धमागधी-आगमों के शौरसेनीकरण की कल्पना। २०. दिगम्बरग्रन्थों में यापनीयमत-विरुद्ध कथनों के प्रक्षेप की कल्पना। २१. स्वाभीष्ट कल्पित-शब्दादि का आरोपण।

यहाँ क्रमांक १६ पर जिन दिगम्बरग्रन्थों के यापनीयग्रन्थ होने की कल्पना का उल्लेख किया गया है, उनके नाम इस प्रकार हैं–१. कसायपाहुड, २. कसायपाहुड-चूर्णिसूत्र, ३. षट्खण्डागम, ४. भगवती-आराधना, ५. भगवती-आराधना की विजयोदया टीका, ६. मूलाचार, ७. तिलोयपण्णत्ती, ८. रविषेणकृत पद्मपुराण, ९. वराङ्गचरित, १०. हरिवंशपुराण, ११. स्वयम्भूकृत पउमचरिउ, १२. बृहत्कथाकोश, १३. छेदपिण्ड, १४. छेदशास्त्र, १५. प्रतिक्रमण-ग्रन्थत्रयी, १६. बृहत्प्रभाचन्द्रकृत तत्त्वार्थसूत्र।

१. गृध्रपिच्छाचार्यकृत दिगम्बरग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र को, जिसे पं० नाथूराम जी प्रेमी ने यापनीयग्रन्थ माना है और श्वेताम्बर-परम्परा श्वेताम्बरग्रन्थ मानती है, उसे डॉ० सागरमल जी ने उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थपरम्परा अर्थात् श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा का ग्रन्थ घोषित किया है। २. आचार्य सिद्धसेनकृत सन्मतिसूत्र भी दिगम्बरग्रन्थ है। उसे श्वेताम्बर अपनी परम्परा का ग्रन्थ मानते हैं, किन्तु डॉ० सागरमल जी ने उसे भी उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थपरम्परा में रचित बतलाया है। इसके विपरीत डॉ० ए० एन० उपाध्ये और उनका अनुसरण करनेवाली श्रीमती डॉ० कुसुम पटोरिया ने उसकी यापनीयग्रन्थ के रूप में पहचान की है।

इस प्रकार १६ दिगम्बर ग्रन्थों को यापनीय परम्परा का और २ ग्रन्थों को यापनीय-परम्परा का भी, श्वेताम्बरपरम्परा का भी तथा श्वेताम्बरों और यापनीयों की कपोलकल्पित मातृ-परम्परा का भी बतलाया गया है। श्वेताम्बरमुनि श्री हेमचन्द्रविजय जी ने कसायपाहुड और उसके चूर्णिसूत्रों को श्वेताम्बरग्रन्थ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

अध्याय २—काल्पनिक हेतुओं की कपोलकल्पितता का उद्घाटन

प्रथम-अध्यायोक्त काल्पनिक हेतुओं में से १९वें और २०वें हेतुओं की कपोल-कल्पितता का उद्घाटन वहीं पर कर दिया गया है। छठे हेतु की कपोलकल्पितता का उद्घाटन आठवें अध्याय में, ११वें हेतु की कपोलकल्पितता का तीसरे अध्याय में, १३वें हेतु की कपोलकल्पितता का सातवें अध्याय में और १४, १५, १७ एवं १८ क्रमांकगत हेतुओं की कपोलकल्पितता का उद्घाटन दसवें अध्याय में किया गया है। १६वें और २१वें हेतुओं की कपोलकल्पितता ११वें अध्याय से लेकर २५वें अध्याय तक पन्द्रह अध्यायों मे उद्घाटित की गयी है। इस द्वितीय अध्याय में क्रमांक १ से लेकर १० तक के एवं क्रमांक १२ के हेतुओं की कपोलकल्पितता का अनावरण किया गया है, जो इस प्रकार है—

१. श्री जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण (७वीं शती ई०) ने विशेषावश्यकभाष्य में घोषणा की है कि तीर्थंकरों ने निर्वस्त्रतीर्थ (दिगम्बरवेश से मुक्ति होने) का नहीं, अपितु सवस्त्रतीर्थ (सवस्त्रवेश से मुक्ति होने) का उपदेश दिया है। इस हेतु के द्वारा उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि यतः दिगम्बरमत निर्वस्त्रतीर्थ का समर्थक है, अतः वह तीर्थंकरप्रणीत नहीं है, अपितु तीर्थंकरोपदेश से विपरीत मत का प्रतिपादक होने से निह्नवमत (मिथ्यामत) है। किन्तु निम्नलिखित प्रमाणों से सिद्ध होता है कि यह हेतु प्रमाणसिद्ध नहीं है, अतः कपोलकल्पित है—

क—श्वेताम्बरग्रन्थ उत्तराध्ययनसूत्र (२३/२९) में कहा गया है कि भगवान् महावीर ने अचेलकधर्म का उपदेश दिया था और भगवान् पार्श्वनाथ ने अचेल-सचेल दोनों

धर्मों का। श्री हरिभद्रसूरि ने भी 'पञ्चाशक' (श्लोक १२) में प्ररूपित किया है कि तीर्थंकर ऋषभदेव और महावीर दोनों का धर्म अचेलक था। इन प्रमाणों से श्री जिनभद्रगणी की उपर्युक्त घोषणा अप्रामाणिक अर्थात् स्वकल्पित सिद्ध हो जाती है। (अध्याय २/ प्र.१)।

ख—हड़प्पा से प्राप्त सिन्धुसभ्यतायुगीन (ई० पू० २४०० वर्ष प्राचीन) जिनप्रतिमा और लोहानीपुर (पटना, बिहार) में उपलब्ध वैसी ही ३०० वर्ष ई० पू० की तीर्थंकरमूर्ति सर्वथा नग्न हैं। मथुरा के कंकालीटीका में मिली कुषाणकालीन (प्रथम शती ई० की) जिनप्रतिमाएँ भी पूर्णतः नग्न (किसी भी प्रकार के वस्त्र से रहित) हैं। यह भी इस बात का प्रमाण है कि तीर्थंकरों ने सवस्त्रतीर्थ का नहीं, अपितु निर्वस्त्रतीर्थ का उपदेश दिया था। अतः जिनभद्रगणी जी का कथन स्वकल्पित है। (अध्याय २/प्र.१)।

ग—ऋग्वेद (१५०० ई० पू०) में वातरशन (वायुरूपी वस्त्रधारी अर्थात् नग्न) मुनियों एवं शिश्नदेवों (नग्नदेवों) के नाम से निर्ग्रन्थ मुनियों का वर्णन है। सम्पूर्ण बौद्ध साहित्य में, चाहे वह ईसापूर्वकालीन हो या ईसोत्तरकालीन, निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय के साधुओं को नग्नवेशधारी बतलाया गया है। 'महाभारत' (ई० पू० ५००-ई० पू० १००) में निर्ग्रन्थ साधुओं को 'नग्नक्षपणक' शब्द से अभिहित किया गया है। वैदिक पुराणों में 'निर्ग्रन्थ' और 'दिगम्बर' शब्द नग्न जैन मुनियों के लिए प्रयुक्त हुए हैं। सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में जहाँ भी 'क्षपणक', 'निर्ग्रन्थ' आदि शब्दों से जैन मुनियों का उल्लेख हुआ है, उन्हें नग्नवेष में ही चित्रित किया गया है। ये प्रमाण भी सिद्ध करते हैं कि श्री जिनभद्रगणी जी की उपर्युक्त घोषणा मनःकल्पित है। (अध्याय २/प्र.१)।

२. छठी-सातवीं शती ई० के श्वेताम्बराचार्यों ने दिगम्बरमत को 'बोटिकमत' शब्द से अभिहित करते हुए यह कथा गढ़ी है कि दिगम्बरमत का प्रवर्तन वीरनिर्वाण सं० ६०९ (ई० सन् ८२) में बोटिक शिवभूति नाम के एक मौजमस्ती करते हुए नगर में घूमने-फिरनेवाले राजसेवक ने श्वेताम्बरसाधु बनने के बाद किया था। यह 'बोटिकमतोत्पत्तिकथा' आवश्यकनिर्युक्ति (छठी शती ई०), आवश्यकमूलभाष्य (छठी शती ई०), विशेषावश्यकभाष्य (७वीं शती ई०), प्रवचनपरीक्षा (१६वीं शती ई०) आदि श्वेताम्बरग्रन्थों में मिलती है। इस मनगढ़न्त कथा के हेतु द्वारा श्वेताम्बरचार्यों ने यह सिद्ध करने की चेष्ट की है दिगम्बरजैनमत तीर्थंकरप्रणीत नहीं है, अपितु एक अत्यन्त साधारण छद्मस्थ पुरुष द्वारा चलाया गया है, तथा वह प्राचीन नहीं, बल्कि श्वेताम्बरमत के बहुत बाद पैदा हुआ है।

श्वेताम्बरमुनि श्री कल्याणविजय जी दिगम्बरजैनमत को इतना प्राचीन (प्रथम शताब्दी ई० का) भी सिद्ध नहीं होने देना चाहते थे, इसलिए उन्होंने अपने ग्रन्थ 'श्रमण

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

भगवान् महावीर' (ई० सन् १९४१) में यह कथा बुनी कि बोटिक शिवभूति ने दिगम्बरमत नहीं चलाया था, अपितु यापनीयमत चलाया था। दिगम्बरजैनमत की स्थापना दक्षिण भारत के आचार्य कुन्दकुन्द ने विक्रम की छठी शती में की थी। श्वेताम्बर विद्वान् पं० दलसुख मालवणिया एवं डॉ० सागरमल जी जैन ने इस मत का अनुसरण करते हुए इसे पुष्ट करने के लिए नये हेतुओं की कल्पना की है। इस कपोलकल्पना के द्वारा मुनि कल्याणविजय जी ने यह साबित करने की कोशिश की है कि दिगम्बरजैनमत बहुत पुराना नहीं है, बल्कि विक्रम की छठी शताब्दी में प्रचलित हुआ है। (अध्याय २/प्र.२/शी.३)।

उपर्युक्त दोनों हेतुओं की कपोलकल्पितता निम्नलिखित प्रमाणों से स्पष्ट हो जाती है—

क—बोटिकमतोत्पत्तिकथा से स्पष्ट है कि बोटिक शिवभूति ने कोई नया मत नहीं चलाया था, अपितु जिनेन्द्रप्रणीत मत को ही अंगीकार किया था। वह श्वेताम्बरसाधु बन गया था, किन्तु स्थविरकल्पी श्वेताम्बरसाधुओं का परिग्रही वेश उसे अच्छा नहीं लगा। इसीलिए जब उसके गुरु आर्यकृष्ण परिग्रहरहित अचेलक जिनकल्प का वर्णन करते हैं तब वह उनसे कहता है—

"स एव जिनकल्पः किं न क्रियते?--- नन्वहमेव तं करोमि, परलोकार्थिना स एव निष्परिग्रहो जिनकल्पः कर्त्तव्यः। किं पुनरनेन कषायभयमूर्च्छादिदोषनिधिना परिग्रहानर्थेन? अत एव श्रुते निष्परिग्रहत्वमुक्तम्। अचेलकाश्च जिनेन्द्राः, अतोऽचेलतैव सुन्दरेति। --- गुरुणा --- प्रज्ञाप्यमानोऽपि--- न स्वाग्रहाद् निवृत्तौऽसौ, किन्तु चीवराणि परित्यज्य निर्गतः।" (हेमचन्द्रसूरि-वृत्ति / विशेषावश्यकभाष्य / गा.२५५१-५२)।

अनुवाद—"वही परिग्रहरहित अचेल जिनकल्प (साध्वाचार) अंगीकार क्यों नहीं किया जाता है? --- मैं उसे अंगीकार करूँगा। मोक्षार्थी को वही निष्परिग्रह जिनकल्प धारण करना चाहिए। यह परिग्रह तो कषाय, भय, मूर्च्छा आदि दोषों का कारण है। अतः इस अनर्थ के कारणभूत परिग्रह से क्या लाभ? इसीलिए श्रुत में परिग्रह के त्याग का उपदेश दिया गया है। जिनेन्द्र भी अचेलक थे, अतः अचेलता ही सुन्दर (हितकर) है। गुरु के द्वारा---समझाये जाने पर भी---उसने अपनी हठ नहीं छोड़ी और वस्त्र त्यागकर (दिगम्बरवेश धारण कर) चला गया।"

शिवभूति के इन वचनों से स्पष्ट है कि उसने श्रुत में (जिनेन्द्र द्वारा) उपदिष्ट और तीर्थंकरों द्वारा अंगीकृत अचेलकधर्म को ही अपनाया था, स्वयं किसी नये धर्म का प्रवर्तन नहीं किया था। अतः सिद्ध है कि 'आवश्यकनिर्युक्ति' आदि में जिसे बोटिकमत (दिगम्बरमत) कहा गया है, वह उतना ही प्राचीन है, जितना श्रुत या तीर्थंकरपरम्परा।

ग्रन्थ या शिलालेख में यापनीयसंघ का नाम दृष्टिगोचर नहीं होता, जब कि निर्ग्रन्थ और श्वेतवस्त्र (श्वेतपट) सम्प्रदायों के नाम उपलब्ध होते हैं। इससे सिद्ध होता है कि यापनीयसम्प्रदाय की उत्पत्ति ईसा की पाँचवीं शती के प्रारंभ में हुई थी। (अध्याय ७/प्र.१/शी.१०)। डॉ० सागरमल जी भी यही मानते हैं। पं० नाथूराम जी प्रेमी ने तत्त्वार्थभाष्य को यापनीकृति माना है। इसका खण्डन करते हुए डॉक्टर सा० लिखते हैं—"भाष्य तो यापनीयपरम्परा के पूर्व का है। भाष्य तीसरी-चौथी शती का है और यापनीयसम्प्रदाय चौथी-पाँचवीं शती के पश्चात् ही कभी अस्तित्व में आया है।" (जै. ध. या. स./पृ. ३५७)। बोटिक शिवभूति के अस्तित्वकाल और यापनीयमत के उत्पत्तिकाल में यह ३०० वर्ष का अन्तराल सिद्ध करता है कि शिवभूति को यापनीयमत का प्रवर्तक बतलाना कपोलकल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

३. डॉ० सागरमल जी का कथन है कि "भगवान् महावीर ने सचेल और अचेल उभयविध धर्म का उपदेश दिया था, अतः उनकी अनुगामिनी उत्तरभारतीय निर्ग्रन्थपरम्परा सचेलाचेल थी। ईसा की पाँचवीं शताब्दी के आरंभ में उसके विभाजन से श्वेताम्बर और यापनीय सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई। अतः उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थपरम्परा श्वेताम्बर और यापनीय संघों की मातृपरम्परा थी।" इस हेतु के द्वारा डॉक्टर सा ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि पूर्वोक्त (अध्याय १ में वर्णित) १८ दिगम्बरजैन ग्रन्थों में से जो ग्रन्थ ईसा की पाँचवीं शताब्दी में या उसके बाद रचा गया है, वह यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ है और जिसकी रचना उसके पूर्व हुई है, वह उत्तरभारतीय-सचेलाचेल निर्ग्रन्थ-परम्परा का है, दिगम्बरपरम्परा का कोई भी नहीं है। (अध्याय २/प्र.३/शी.१,२)। इस आधार पर उन्होंने **तत्त्वार्थसूत्र** और सिद्धसेनकृत **सन्मतिसूत्र** को उत्तरभारतीय-सचेलाचेल निर्ग्रन्थ-परम्परा का ग्रन्थ घोषित किया है और शेष को यापनीयग्रन्थ। पहले उन्होंने कसायपाहुड, उसके चूर्णिसूत्रों और षट्खण्डागम को भी उत्तरभारतीय-सचेलाचेल निर्ग्रन्थ-परम्परा का ग्रन्थ बतलाया था, किन्तु बाद में उन्होंने इस कपोलकल्पना की सृष्टि की, कि तत्त्वार्थसूत्र में गुणस्थानसिद्धान्त उपलब्ध नहीं होता, जब कि कसायपाहुड, षट्खण्डागम, भगवती-आराधना, मूलाचार आदि में होता है, अतः गुणस्थानसिद्धान्त का क्रमशः विकास हुआ है। इस कारण कसायपाहुड आदि ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र (उनके अनुसार तीसरी-चौथी शती ई०) के बाद रचे गये हैं। इस कपोलकल्पना के आधार पर डॉ० सागरमल जी ने कसायपाहुड, उसके चूर्णिसूत्रों तथा षट्खण्डागम को यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ मान लिया। (अध्याय १०/प्र.५/शी.१)। किन्तु उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थपरम्परा का कभी अस्तित्व ही नहीं था, यह डॉ० सागरमल जी द्वारा कपोलकल्पित है। यह निम्नलिखित प्रमाणों से सिद्ध है—

क—**उत्तराध्ययनसूत्र** (२३ / २९) एवं हरिभद्रसूरिकृत **पञ्चाशक** (श्लोक १२) में कहा गया है कि भगवान् महावीर ने अचेलक धर्म का ही उपदेश दिया था, सचेल-अचेल का नहीं। **कल्पनिर्युक्ति** में साधुओं के दस **स्थितिकल्पों** (अनिवार्य आचारों) में **आचेलक्य** (नग्नत्व) पहला स्थितिकल्प बतलाया गया है। तथा **तत्त्वार्थसूत्र** में भी साधु के बाईस परीषहों में **नाग्न्यपरीषह** निर्दिष्ट है, जो साधु के लिए अचेललिंग धारण करने के उपदेश का सूचक है। इन प्रमाणों से निश्चित होता है कि भगवान् महावीर का अनुयायी निर्ग्रन्थसंघ सर्वथा अचेल था, सचेलाचेल नहीं। (अध्याय २ / प्र.३ / शी.३)।

ख—श्वेताम्बरग्रन्थ **विशेषावश्यकभाष्य** में साधुओं के लिए दो प्रकार के आचारों का वर्णन है : **जिनकल्प** और **स्थविरकल्प**। इनमें जिनकल्प को अचेल और स्थविरकल्प को सचेल कहा गया है, किन्तु यह सत्य नहीं है। जिनकल्प भी सचेल ही था, जैसा कि **प्रवचनपरीक्षा** में कहा गया है—

"--- **एवमुक्तप्रकारेण जिनकल्पिकाः स्थविरकल्पिकाश्चेत्युभयेऽपि प्रागुक्तगुण-हेतवे वस्त्रणि विभ्रति। अन्यथा प्रवचनखिंसादयः स्त्रीजनस्यात्मनश्च मोहोदयादयो बहवो दोषाः स्युः।**" (प्रव. परी. / वृत्ति / १ / २ / ३१ / पृ.९५)।

अनुवाद—"---इस प्रकार जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिक, दोनों पूर्वोक्त गुणों (लोकमर्यादा का पालन, लज्जा तथा ब्रह्मचर्य की रक्षा, शीतातपदंशमशकजन्य पीड़ाओं के निरोध द्वारा सद्ध्यान की प्राप्ति, जैनसंघ की निन्दा का परिहार, स्त्रियों में काम-विकारोत्पत्ति का निवारण एवं जीवहिंसा की निवृत्ति) की सिद्धि के लिए वस्त्र धारण करते हैं। अन्यथा जैनसंघ की निन्दा, स्त्रियों तथा स्वयं में कामविकार की उत्पत्ति आदि अनेक दोष उत्पन्न हो सकते हैं।" (अध्याय २ / प्र.३ / शी.३.३.१)।

विशेषावश्यकभाष्य के कर्त्ता का कथन है कि इस सचेल जिनकल्प का भी जम्बूस्वामी के निर्वाण (वीरनिर्वाण सं० ६२) के बाद व्युच्छेद हो गया। (अध्याय २/ प्र. ३ / शी. ३.५)। इस प्रकार श्वेताम्बरमत में आरम्भ से ही एकमात्र स्थविरकल्पिकों का अर्थात् सचेलसाधुसंघ का अस्तित्व रहा है और दिगम्बरमत में एकमात्र अचेल साधुसंघ का। यापनीयसंघ की उत्पत्ति (पाँचवीं शती ई०) के पूर्व तक कोई भी ऐसा जैनसंघ नहीं था, जिसमें सचेल और अचेल दोनों प्रकार के साधुओं का अस्तित्व हो। अतः डॉ० सागरमल जी का यह कथन सर्वथा कपोलकल्पित है कि उत्तरभारत का मूल निर्ग्रन्थसंघ सचेलाचेल था और वह ईसा की पाँचवीं शताब्दी के प्रारंभ तक विद्यमान रहा तथा इसी समय उसके विभाजन से श्वेताम्बर और यापनीय संघों की उत्पत्ति हुई। तात्पर्य यह कि श्वेताम्बरों और यापनीयों की समान मातृपरम्परा का अस्तित्व

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

कपोलकल्पित है, अतः उपर्युक्त १८ दिगम्बरग्रन्थों में से दो ग्रन्थों को डॉ० सागरमल जी ने जो श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा अर्थात् उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ के आचार्यों द्वारा रचित बतलाया है, वह अप्रामाणिक है, बन्ध्यापुत्र और आकाशकुसुम के समान कपोलकल्पित है।

ऐतिहासिक प्रमाणों से भी उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थपरम्परा का अस्तित्व मिथ्या सिद्ध होता है। यथा—

क—पाँचवीं शती ई० के देवगिरि एवं हल्सी के अभिलेखों में श्वेतपटमहाश्रमणसंघ, निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघ, यापनीयसंघ एवं कूर्चकसंघ का उल्लेख है, किन्तु पाँचवीं शती ई० या उससे पूर्व के किसी भी अभिलेख या ग्रन्थ में 'उत्तरभारतीय-निर्ग्रन्थसंघ' या 'उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ' का उल्लेख नहीं है।

ख—उपर्युक्त अभिलेखों में **निर्ग्रन्थ** शब्द श्वेताम्बरों, यापनीयों और कूर्चकों के प्रतिपक्षी दिगम्बरों के लिए प्रयुक्त है। इससे सिद्ध होता है कि परम्परा से दिगम्बरजैन मुनि ही लोक में निर्ग्रन्थ शब्द से अभिहित होते थे। इसलिए दिगम्बरजैन मुनियों से भिन्न सचेलाचेल-सम्प्रदाय के मुनियों के लिए 'निर्ग्रन्थ' शब्द का प्रयोग हो ही नहीं सकता था, क्योंकि इससे साम्प्रदायिक भिन्नता की पहचान असंभव हो जाती। यापनीय-सम्प्रदाय के साधु भी अचेल और सचेल दोनों लिंग धारण करते थे, किन्तु उन्होंने उपर्युक्त कारण से अपने सम्प्रदाय को 'निर्ग्रन्थ' शब्द से प्रसिद्ध नहीं किया। कथित सचेलाचेल-सम्प्रदाय 'निर्ग्रन्थ' नाम से प्रसिद्ध था, इसका कोई अभिलेखीय या साहित्यिक प्रमाण भी उपलब्ध नहीं है। इससे भी उक्त सम्प्रदाय का अस्तित्व प्रामाणिक सिद्ध नहीं होता।

ग—डॉ० सागरमल जी का कथन है कि उक्त सचेलाचेल-सम्प्रदाय पाँचवी शताब्दी ई० के आरम्भ में श्वेताम्बर और यापनीय सम्प्रदायों में विभक्त हो गया था। किन्तु अशोककालीन अथवा ईसापूर्व प्रथम शताब्दी ई० के बौद्ध ग्रन्थ **अपदान** में **सेतवत्थ** नाम से श्वेताम्बर साधुओं का उल्लेख है, जो इस बात का प्रमाण है कि श्वेताम्बरसम्प्रदाय की उत्पत्ति ईसापूर्वकाल में ही हो गयी थी। इससे यह बात मिथ्या सिद्ध हो जाती है कि उत्तरभारतीय सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ पाँचवीं शताब्दी ई० के आरंभ में श्वेताम्बर और यापनीय संघों में विभक्त हो गया था। विभक्त भी नहीं हुआ और विद्यमान भी नहीं है, यह इस बात का सबूत है कि उसका अस्तित्व ही नहीं था।

घ—कथित सचेलाचेल-सम्प्रदाय में साधु को सचेल और अचेल दो लिंगों में से किसी को भी ग्रहण करने की स्वंतत्रता थी। इसलिए वह श्वेताम्बरों के भी अनुकूल था और यापनीयों के भी। अतः उसमें विभाजित होने योग्य परस्थितियाँ ही नहीं थीं।

इस कारण उसके श्वेताम्बर और यापनीय सम्प्रदायों में विभाजित होने की मान्यता युक्तिसंगत नहीं है। वह विभाजित भी नहीं हुआ और मौजूद भी नहीं है, यह उसके काल्पनिक होने का प्रमाण है।

ङ—जब किसी पूर्व संघ से नया संघ जन्म लेता है, तब नये संघ का ही नया नामकरण होता है, पूर्वसंघ अपने पूर्वनाम से ही नये संघ के साथ विद्यमान रहता है। जैसे निर्ग्रन्थसंघ से श्वेताम्बरसंघ की उत्पत्ति हुई, तो श्वेताम्बरसंघ का ही 'श्वेताम्बर-संघ' यह नया नाम रखा गया, निर्ग्रन्थसंघ अपने 'निर्ग्रन्थसंघ' नाम से ही श्वेताम्बर-संघ के साथ विद्यमान रहा, जैसा कि श्री विजयशिवमृगेशवर्मा के देवगिरि अभिलेख से ज्ञात होता है। अतः यदि उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ से श्वेताम्बर और यापनीय संघों की उत्पत्ति हुयी होती, तो वह उसी नाम से इन नये संघों के साथ विद्यमान दिखायी देता। किन्तु किसी भी अभिलेख या ग्रन्थ में इन नये संघों के साथ उसका नाम दिखाई नहीं देता। इससे सिद्ध होता है, कि वह कपोलकल्पित है।

४. 'जो पुरुष उसी भव में तीर्थंकर होनेवाला है, उसे छोड़कर शेष पुरुष तीर्थंकरलिंग (नाग्न्यलिंग) ग्रहण करने के अधिकारी नहीं हैं,' जिनभद्रगणी जी ने विशेषावश्यकभाष्य में इसे जिनवचन बतलाया है। इसे जिनवचन कहकर उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि दिगम्बरमत में मुनि के लिए तीर्थंकरलिंग का विधान किया गया है, अतः वह निह्नवमत है। (अध्याय २/प्र.५/शी.१,२)। किन्तु यह वचन जिनवचन के प्रतिकूल है। इसके प्रमाण नीचे द्रष्टव्य हैं—

क—**उत्तराध्ययनसूत्र** (२३/१९) और श्री हरिभद्रसूरिकृत **पञ्चाशक** (श्लोक १२) में कहा गया है कि भगवान् पार्श्वनाथ ने सचेलाचेल धर्म का उपदेश दिया था और भगवान् महावीर ने अचेलक धर्म का। ये उपदेश सामान्य (उसी भव से तीर्थंकर न होनेवाले) पुरुषों के लिए ही दिये गये हैं, क्योंकि उसी भव से तीर्थंकर होनेवालों के लिए उपदेश नहीं दिया जाता, वे स्वयंबुद्ध होते हैं। यह बात विशेषावश्यकभाष्य (गा. २५८८-८९) के वृत्तिकार मलधारी श्री हेमचन्द्रसूरि ने स्वयं कही है। (अध्याय २/प्र.५/शी.१)। तथा भगवान् पार्श्वनाथ का सचेलाचेललिंग का उपदेश तीर्थंकरों के लिए हो ही नहीं सकता, क्योंकि जिनभद्रगणी जी ने स्वयं तीर्थंकरों का लिंग अचेललिंग बतलाया है, और उसी का सामान्य पुरुषों के लिए निषेध किया है। अतः जिसप्रकार भगवान् पार्श्वनाथ का सचेलाचेललिंग का उपदेश सामान्य पुरुषों के लिए ही है, वैसे ही भगवान् महावीर का अचेललिंग का उपदेश भी सामान्य पुरुषों के लिए ही है। यह प्रमाण श्री जिनभद्रगणी जी के इस कथन को कपोलकल्पित सिद्ध कर देता है कि जिनेन्द्रदेव ने सामान्य पुरुषों के लिए तीर्थंकर लिंग का निषेध किया है।

ख—पञ्चमकाल में भगवान् महावीर का ही तीर्थ चल रहा है। उन्होंने अचेलतीर्थ का प्रवर्तन किया था। इससे सिद्ध है कि पंचमकालीन सामान्य पुरुष अचेललिंग ग्रहण के अधिकारी हैं।

ग—जिनभद्रगणी जी ने **विशेषावश्यकभाष्य** (गा.२५९३) में जम्बूस्वामी के निर्वाण के पश्चात् (अर्थात् पंचमकाल में) उपशमकश्रेणी और क्षपकश्रेणी का व्युच्छेद बतलाया है, इनके पूर्व के प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत गुणस्थानों का नहीं। अर्थात् उनके अनुसार अन्तिम तीन हीन संहननवाले पुरुष अप्रमत्तसंयत-गुणस्थान-प्राप्ति के योग्य होते हैं। (श्री सिद्धसेनगणी और श्री हरिभद्रसूरि ने चौथे अर्धनाराचसंहनन को भी उत्तमसंहनन बतलाया है। देखिये, तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति/९/२७ तथा तत्त्वार्थटीका/९/२७)। तत्त्वार्थसूत्रकार ने **बादरसाम्पराये सर्वे** (त.सू.—दि. एवं श्वे./९/१२) सूत्र के द्वारा नौवें गुणस्थान तक नाग्न्यपरीषह का सद्भाव बतलाया है। इससे सिद्ध है कि नाग्न्यलिंग के अंगीकार की योग्यता पंचमकाल में अर्धनाराच आदि हीनसंहननधारियों में भी होती है।

घ—कर्मसिद्धान्त एक विज्ञान है। वह भौतिक नियमों की तरह नियमों का उल्लघंन नहीं करता, स्वार्थप्रेरित चेतन-प्राणी के समान पक्षपात नहीं करता। ऐसा नहीं हो सकता कि तीर्थंकरों में वस्त्रपात्रादि-परिग्रहगत रागद्वेष न होने पर ही संवर और निर्जरा होती हो तथा सामान्य पुरुषों में वस्त्रपात्रादि-परिग्रहगत रागद्वेष होने पर भी संवर-निर्जरा संभव हो। यदि रागादिभावों में चुम्बक और लोहे के समान कर्मों के आकर्षण की शक्ति है, तो रागादिभाव चाहे (उसी भव में होनेवाले) तीर्थंकर में रहें या सामान्य पुरुष में, कर्मों का आकृष्ट होना अनिवार्य है। तथा वीतरागभाव के सद्भाव में यदि कर्मों के संवर और निर्जरा का नियम है, तो वीतरागभाव का सद्भाव चाहे तीर्थंकर में रहे या सामान्यपुरुष में, कर्मों का संवर और निर्जरा हुए बिना नहीं रह सकती। यदि ऐसा न हो, तो '**मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः**' (त.सू./८/१) और '**सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः**' (त.सू./१/१) ये तीर्थंकरवचन झूठे हो जायेंगे। कर्मों के आस्रव-बन्ध और संवर-निर्जरा-मोक्ष का सम्बन्ध आत्मपरिणामों से है। और आत्मपरिणामों का सम्बन्ध बाह्य परिग्रह के ग्रहण और त्याग से है। ऐसा नहीं हो सकता कि तीर्थंकरों में कर्मों के संवर-निर्जरा-मोक्ष-योग्य परिणामों की उत्पत्ति वस्त्रादि समस्त परिग्रह के त्याग से ही होती हो और सामान्य पुरुषों में वस्त्रादिपरिग्रह से युक्त रहने पर भी संभव हो। यह संभव नहीं है, इसलिए सिद्ध है कि जैसे कर्मक्षय के लिए नाग्न्यलिंग का ग्रहण तीर्थंकरों के लिए आवश्यक है, वैसे ही सामान्य पुरुषों के लिए भी है। अतः जिनभद्रगणी जी ने जो सामान्य पुरुषों के लिए तीर्थंकरलिंग (नाग्न्यलिंग) का निषेध बतलाया है, वह स्वकल्पित है, आगमोक्त नहीं। वस्तुतः तीर्थंकरलिंग मुनिलिंग ही है। (अध्याय २/प्र.५/शी.३)।

५. श्वेताम्बर-आगमों में श्वेताम्बर (सवस्त्र) साधुओं के लिए **निर्ग्रन्थ** शब्द का और आर्यिकाओं के लिए **निर्ग्रन्थी** शब्द का प्रयोग किया गया है। यह **निर्ग्रन्थ** शब्द के साम्प्रदायिक, ऐतिहासिक और लोकप्रसिद्ध अर्थ के विरुद्ध है। **निर्ग्रन्थ** शब्द का अर्थ नग्न दिगम्बरजैन साधु है। अचेलकधर्म का उपदेश देनेवाले अचेल तीर्थंकर महावीर वस्त्रपात्रादि बाह्य ग्रन्थ एवं मिथ्यात्वकषायादि आभ्यन्तर ग्रन्थ (परिग्रह) के त्यागी होने से **निर्ग्रन्थ** कहलाते थे। इसलिए उनके अनुयायी अचेल मुनियों का संघ **निर्ग्रन्थसंघ** के नाम से प्रसिद्ध हुआ। ईसापूर्व शताब्दियों में रचित प्राचीन बौद्ध पिटकसाहित्य में भगवान् महावीर का उल्लेख **निगंठनाटपुत्र** (निर्ग्रन्थज्ञातपुत्र) के नाम से हुआ है और उनके अनुयायी नग्न साधुओं को **निगंठ** (निर्ग्रन्थ), **अचेल** और **अहिरिक** (अह्रीक = निर्लज्ज) शब्दों से अभिहित किया गया है। सम्राट् अशोक के देहली-टोपरा-सप्तम स्तंभलेख (२४२ ई० पू०) में निर्ग्रन्थों का एक सम्प्रदाय के रूप में उल्लेख है और ५वीं शताब्दी ई० के कदम्बवंशीय राजा श्रीविजयशिवमृगेश वर्मा के देवगिरि-ताम्रपात्रलेख (क्र. ९८) में **श्वेतपटमहाश्रमणसंघ** और **निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघ** को कालवंग ग्राम विभक्त कर दान में दिये जाने का वर्णन है। इससे सिद्ध है कि बुद्ध के समय से लेकर ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक दिगम्बरजैनसंघ लोक में **निर्ग्रन्थश्रमणसघ** के नाम से प्रसिद्ध था और श्वेताम्बरजैनसंघ अपने उदयकाल (अन्तिम अनुबद्धकेवली जम्बूस्वामी के निर्वाणानन्तर, वीरनिर्वाण सं० ६२ = ४६५ ई० पू०) से लेकर ईसा की पाँचवीं शती तक **श्वेतपटश्रमणसंघ, श्वेतवस्त्र, सिताम्बर, श्वेताम्बर** आदि नामों से प्रसिद्धि को प्राप्त था। श्वेताम्बरसंघ अपने को लोक में निर्ग्रन्थसंघ के नाम से प्रसिद्ध नहीं कर सका, इसका कारण यही था कि यह नाम तीर्थंकर महावीर के समय से ही दिगम्बरजैनसंघ के लिए लोकविश्रुत हो चुका था। फलस्वरूप श्वेताम्बरसंघ को लोक में अपनी पहचान **श्वेतपटश्रमणसंघ, सिताम्बरसंघ, श्वेतवस्त्रसंघ, श्वेताम्बरसंघ** आदि नामों से बनानी पड़ी। इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि साम्प्रदायिक, ऐतिहासिक और लोकप्रसिद्धि की दृष्टियों से **निर्ग्रन्थ** शब्द का अर्थ दिगम्बरजैन मुनि ही है।

वस्तुतः श्वेताम्बरसंघ की उत्पत्ति के पूर्व निर्ग्रन्थसंघ के सभी साधु अचेल होते थे, अतः 'निर्ग्रन्थ' शब्द 'जैनसाधु' का पर्यायवाची बन गया था। इसलिए जब निर्ग्रन्थसंघ के कुछ साधुओं ने वस्त्रपात्र धारण कर श्वेताम्बरसंघ बना लिया, तब भी उन्होंने जैनसाधु के रूप में अपनी पहचान कराने हेतु अपने लिए 'निग्रन्थ' शब्द का प्रयोग प्रचलित रखा। किन्तु यह प्रयोग उनके शास्त्रों तक ही सीमित रहा। इस नाम से वे अपने संघ को लोक-प्रसिद्ध नहीं कर सके, क्योंकि यह नाम पहले से ही अचेल (दिगम्बर) जैनश्रमणों के लिए प्रसिद्ध था, साथ ही यह श्वेताम्बरों की साम्प्रदायिक विशिष्टता के विज्ञापन में भी बाधक था। इसलिए उन्होंने अपने संघ को **श्वेतपट-श्रमणसंघ** नाम से प्रसिद्ध किया।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

अध्याय ३—श्वेताम्बरसाहित्य में दिगम्बरमत की चर्चा

श्वेताम्बरसाहित्य में ऐसे अनेक उल्लेख मिलते हैं, जिनसे दिगम्बरजैनमत की प्राचीनता और श्वेताम्बरमत से पूर्ववर्तिता सिद्ध होती है। उदाहरणार्थ—

१. विशेषावश्यकभाष्य, बृहत्कल्पसूत्र के लघुभाष्य आदि श्वेताम्बरग्रन्थों में तीर्थंकरों को सर्वथा अचेल वर्णित किया गया है। (अध्याय ३/प्र.१/शी.४)। यद्यपि आवश्यकनिर्युक्ति, विशेषावश्यकभाष्य आदि के अनुसार सभी तीर्थंकर एक वस्त्र लेकर प्रव्रजित होते हैं, तथापि वह वस्त्र कुछ समय बाद च्युत हो जाता है और तीर्थंकर अन्ततः अचेल अवस्था में ही मुक्त होते हैं। सचेलमुक्ति की मान्यता श्वेताम्बरमत का विशिष्ट सिद्धान्त है। उसके अनुसार तीर्थंकर भी सचेल होने पर मुक्त हो सकते हैं। जब सामान्य स्त्री-पुरुष सचेल होते हुए मुक्त हो सकते हैं, तब तीर्थंकर जैसी सातिशय आत्मा सचेल होते हुए मुक्त न हो, यह तो सोचा भी नहीं जा सकता। अतः श्वेताम्बरमत में तीर्थंकरों को अचेल मानना आवश्यक नहीं था। फिर भी माना गया है। यह इस बात का प्रमाण है कि श्वेताम्बरसंघ पहले उसी **निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघ** का अभिन्न अंग था जिसमें तीर्थंकर सर्वथा अचेलमुद्राधारी माने गये हैं। तीर्थंकरों की यह नग्न-मुद्रा लोकप्रसिद्ध थी, वैदिकपरम्परा और बौद्धपरम्परा में भी प्रसिद्ध थी। अतः श्वेताम्बर इसे अमान्य नहीं कर सकते थे। इस कारण उन्हें तीर्थंकरों को सर्वथा अचेल ही स्वीकार करना पड़ा, यद्यपि प्रव्रजित होते समय उन्हें कुछ समय के लिए देवदूष्यधारी मान ही लिया। अतः श्वेताम्बरसाहित्य में तीर्थंकरों के अचेलत्व की स्वीकृति श्वेताम्बरपरम्परा पर दिगम्बरपरम्परा के प्रभाव को स्पष्टतः परिलक्षित करती है। यह दिगम्बरपरम्परा के पूर्वभाव का स्पष्ट प्रमाण है।

२. उत्तराध्ययनसूत्र आदि श्वेताम्बरग्रन्थों में प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों को केवल अचेलकधर्म का उपदेशक तथा शेष २२ तीर्थंकरों को अचेल और सचेल दोनों धर्मों का उपदेशक बतलाया गया है। (देखिये, अध्याय ३/प्र.१/शी.५)। **दशवैकालिकसूत्र** (६/१९-२०) के अनुसार श्वेताम्बरमत साधु के वस्त्र, पात्र, कम्बल आदि धारण करने को परिग्रह नहीं मानता, अपितु संयम और लज्जा की रक्षा का साधन मानता है। (देखिये, अध्याय ३/प्र.१/शी.८)। इस प्रकार जब उसे सचेलमुक्ति मान्य है, तब तीर्थंकरों को अचेलकधर्म का उपदेशक बतलाना आवश्यक नहीं था। सभी तीर्थंकरों को मात्र सचेलधर्म का ही उपदेष्टा प्ररूपित करना युक्तिसंगत था। किन्तु अचेलकधर्म का उपदेशक बतलाया गया है। इसका कारण भी यही है कि भगवान् ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त चौबीसों तीर्थंकर **अचेलकधर्म** के ही उपदेष्टा के रूप में लोकप्रसिद्ध थे। उनके अनुयायी मुनि भी **निर्ग्रन्थ** नाम से जाने जाते थे और **निर्ग्रन्थ** शब्द जैनसम्प्रदाय के अतिरिक्त वैदिक और बौद्ध सम्प्रदायों में भी नग्न जैनमुनियों के लिए ही प्रसिद्ध

था। (देखिये, अध्याय २/प्र.६ तथा अध्याय ४)। इतने बड़े सत्य का अपलाप मुश्किल था। इसीलिए श्वेताम्बराचार्यों को अपने साहित्य में इस सत्य का उल्लेख करना पड़ा, यद्यपि उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों एवं टीकाकारों ने अचेलकधर्म को सचेलधर्म सिद्ध करने का अस्वाभाविक प्रयास किया है। श्वेताम्बरसाहित्य में तीर्थंकरों को अचेलक-धर्म का उपदेशक प्ररूपित किया जाना इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि अचेलकधर्म अर्थात् दिगम्बरधर्म की परम्परा श्वेताम्बर-साहित्य के रचनाकाल से पूर्ववर्ती है।

३. **आचारांग** और **स्थानांग** में अचेलत्व को सचेलत्व से श्रेष्ठ बतलाया गया है। स्थानांग में कहा गया है— क—अचेलक की प्रतिलेखना अल्प होती है, ख—अचेलक का लाघव प्रशस्त होता है, ग—अचेलकवेश विश्वास के योग्य होता है, घ—अचेलक का तप अनुज्ञात (जिन-अनुमत) होता है, ङ—अचेलक के विपुल इन्द्रियनिग्रह होता है। (देखिये, अध्याय ३/प्र.१/शी.७)। आचारांग का कथन है कि अचेल भिक्षु को अनेक प्रकार के परीषह होते हैं, इन्हें भलीभाँति सहन कर वह कर्मों के भार से मुक्त हो जाता है। (देखिये, अध्याय ३/ प्र.१/ शी.६)। टीकाकार शीलांकाचार्य ने आचारांगोक्त **अचेल** शब्द का **अल्पचेल** अर्थ किया है, किन्तु आचारांग में अल्पचेल को 'अचेल' नहीं कहा गया है, अपितु सर्वथा चेलरहित को ही 'अचेल' शब्द से अभिहित किया गया है। (देखिये, अध्याय ३/प्र.१/शी.६)। सचेलमुक्ति माननेवाले श्वेताम्बरमत के ग्रन्थों में अचेलत्व को श्रेष्ठ प्रतिपादित किया जाना श्वेताम्बराचार्यों के प्राचीन दिगम्बरीय संस्कारों की अभिव्यक्ति का सूचक है।

४. आचारांग में द्रव्यपरिग्रह को भी परिग्रह बतलाते हुए कहा गया है—"लोक में जितने भी परिग्रहवाले मुनि हैं, उनका परिग्रह थोड़ा हो या बहुत, सूक्ष्म हो या स्थूल, चेतन हो या अचेतन, वे सब इन परिग्रहवाले गृहस्थों में ही अन्तर्भूत होते हैं। यह परिग्रह इनके लिए महाभय का कारण है। संसार की दशा जानकर इसे छोड़ो। जिसके पास यह परिग्रह नहीं होता, उसे महाभय नहीं होता।" (देखिये, अध्याय ३/ प्र.१/शी.८)। परिग्रह की यह परिभाषा दशवैकालिकसूत्र (६/१९-२०) में वर्णित उस परिभाषा के विपरीत है, जिसमें वस्त्र, पात्र, कम्बल आदि बाह्य द्रव्यों को परिग्रह न कहकर केवल मूर्च्छा को परिग्रह कहा गया है। बाह्य द्रव्यों के परिग्रह को भी परिग्रह माननेवाली आचारांग-गत यह परिभाषा सर्वथा दिगम्बरमतानुरूप है। यह श्वेताम्बर बन्धुओं के अन्तःकरण पर पड़े हुए प्राचीन दिगम्बरीय संस्कारों के प्रकट होने का प्रमाण है, जिससे सूचित होता है कि दिगम्बरमत श्वेताम्बरमत से पूर्ववर्ती है।

५. स्थानांग में उपदेश है कि केवल तीन परिस्थितियों में वस्त्र धारण करना चाहिए। वे तीन परिस्थितियाँ हैं : ह्रीप्रत्यय (लज्जा का अनुभव), जुगुप्साप्रत्यय (लोकनिन्दा

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

था। (देखिये, अध्याय २/प्र.६ तथा अध्याय ४)। इतने बड़े सत्य का अपलाप मुश्किल था। इसीलिए श्वेताम्बराचार्यों को अपने साहित्य में इस सत्य का उल्लेख करना पड़ा, यद्यपि उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों एवं टीकाकारों ने अचेलकधर्म को सचेलधर्म सिद्ध करने का अस्वाभाविक प्रयास किया है। श्वेताम्बरसाहित्य में तीर्थंकरों को अचेलक-धर्म का उपदेशक प्ररूपित किया जाना इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि अचेलकधर्म अर्थात् दिगम्बरधर्म की परम्परा श्वेताम्बर-साहित्य के रचनाकाल से पूर्ववर्ती है।

३. **आचारांग** और **स्थानांग** में अचेलत्व को सचेलत्व से श्रेष्ठ बतलाया गया है। स्थानांग में कहा गया है— क—अचेलक की प्रतिलेखना अल्प होती है, ख—अचेलक का लाघव प्रशस्त होता है, ग—अचेलकवेश विश्वास के योग्य होता है, घ—अचेलक का तप अनुज्ञात (जिन-अनुमत) होता है, ङ—अचेलक के विपुल इन्द्रियनिग्रह होता है। (देखिये, अध्याय ३/प्र.१/शी.७)। आचारांग का कथन है कि अचेल भिक्षु को अनेक प्रकार के परीषह होते हैं, इन्हें भलीभाँति सहन कर वह कर्मों के भार से मुक्त हो जाता है। (देखिये, अध्याय ३/ प्र.१/ शी.६)। टीकाकार शीलांकाचार्य ने आचारांगोक्त **अचेल** शब्द का **अल्पचेल** अर्थ किया है, किन्तु आचारांग में अल्पचेल को 'अचेल' नहीं कहा गया है, अपितु सर्वथा चेलरहित को ही 'अचेल' शब्द से अभिहित किया गया है। (देखिये, अध्याय ३/प्र.१/शी.६)। सचेलमुक्ति माननेवाले श्वेताम्बरमत के ग्रन्थों में अचेलत्व को श्रेष्ठ प्रतिपादित किया जाना श्वेताम्बराचार्यों के प्राचीन दिगम्बरीय संस्कारों की अभिव्यक्ति का सूचक है।

४. आचारांग में द्रव्यपरिग्रह को भी परिग्रह बतलाते हुए कहा गया है—"लोक में जितने भी परिग्रहवाले मुनि हैं, उनका परिग्रह थोड़ा हो या बहुत, सूक्ष्म हो या स्थूल, चेतन हो या अचेतन, वे सब इन परिग्रहवाले गृहस्थों में ही अन्तर्भूत होते हैं। यह परिग्रह इनके लिए महाभय का कारण है। संसार की दशा जानकर इसे छोड़ो। जिसके पास यह परिग्रह नहीं होता, उसे महाभय नहीं होता।" (देखिये, अध्याय ३/ प्र.१/शी.८)। परिग्रह की यह परिभाषा दशवैकालिकसूत्र (६/१९-२०) में वर्णित उस परिभाषा के विपरीत है, जिसमें वस्त्र, पात्र, कम्बल आदि बाह्य द्रव्यों को परिग्रह न कहकर केवल मूर्च्छा को परिग्रह कहा गया है। बाह्य द्रव्यों के परिग्रह को भी परिग्रह माननेवाली आचारांग-गत यह परिभाषा सर्वथा दिगम्बरमतानुरूप है। यह श्वेताम्बर बन्धुओं के अन्तःकरण पर पड़े हुए प्राचीन दिगम्बरीय संस्कारों के प्रकट होने का प्रमाण है, जिससे सूचित होता है कि दिगम्बरमत श्वेताम्बरमत से पूर्ववर्ती है।

५. स्थानांग में उपदेश है कि केवल तीन परिस्थितियों में वस्त्र धारण करना चाहिए। वे तीन परिस्थितियाँ हैं : ह्रीप्रत्यय (लज्जा का अनुभव), जुगुप्साप्रत्यय (लोकनिन्दा

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

का भय), तथा परीषहप्रत्यय (शीतादि की पीड़ा सहने में असमर्थता)—"**तिंहिं ठाणेहिं वत्थं धारेज्जा। तं जहा हिरिवत्तियं, दुगुंछावत्तियं, परीषहवत्तियं।**" (स्था.सू./३/३/३४७/१५०)। यदि उक्त तीन परिस्थितियाँ न हों तो साधु को नग्न ही रहना चाहिए। आचारांग में भी ऐसा ही कहा गया है। (देखिये, अध्याय ३/प्र.१/शी.६)। इस प्रकार श्वेताम्बर-आगमों में भी दिगम्बरत्व का ही मुख्यतः विधान किया गया है। वस्त्रधारण की अनुमति तो कारणाश्रित होने से आपवादिक है।

वस्तुतः दिगम्बरत्व या अचेलत्व की अवधारणा के बिना जैनमत की अवधारणा साकार नहीं होती। दिगम्बरत्व ही जैनमत का प्राण है। श्वेताम्बरदृष्टि में भी **जैन** नाम के साथ दिगम्बरत्व की अवधारणा रची-पची है, इसीलिए सम्पूर्ण श्वेताम्बर-साहित्य में किसी न किसी रूप में अचेलत्व को स्वीकार किया गया है, अचेलत्व की चर्चा की गयी है, अचेलत्व की नयी-नयी व्याख्याएँ कर सचेलों पर अचेलत्व घटाया गया है, अचेलत्व को जिनकल्प नाम देकर उसे व्युच्छिन्न घोषित किया गया है। तात्पर्य यह कि श्वेताम्बपरम्परा अचेलत्व को आचरण से बहिष्कृत करके भी उसकी अवधारणा से पीछा नहीं छुड़ा पायी। यह इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि श्वेताम्बरपरम्परा दिगम्बरपरम्परा से उद्भूत हुई है, इसीलिए उसके सहित्य में दिगम्बरदृष्टि का रंग बिखरा हुआ दिखायी देता है।

६. जहाँ श्वेताम्बरीय **आचारांग** और **स्थानांगसूत्र** में अचेलत्व की श्रेष्ठता का प्रतिपादन कर तथा **उत्तराध्ययन** आदि में प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों को अचेलकधर्म का उपदेशक बतलाकर दिगम्बरजैनमत की पूर्ववर्तिता सूचित की गयी है, वहीं **दशवैकालिकसूत्र** आदि कतिपय ग्रन्थों में दिगम्बरमान्य सिद्धान्तों का खण्डन कर दिगम्बर-मत का पूर्ववर्तित्व दर्शाया गया है। यथा—

क—श्वेताम्बरमान्यतानुसार वीरनिर्वाण के लगभग ७५ वर्ष बाद (४५२ ई० पू०) हुए **आचार्य शय्यम्भव** ने अपने **दशवैकालिकसूत्र** में लिखा है—

जं पि वत्थं व पायं वा कंबलं पायपुंछणं।
तं पि संजमलज्जट्ठा धारंति परिहरंति अ॥ ६/१९॥

न सो परिग्गहो वुत्तो णायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो इअ वुत्तं महेसिणा॥ ६/२०॥

अनुवाद—'साधु जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल और पादप्रौञ्छन (रजोहरण) धारण करता है और उपभोग करता है, उसका प्रयोजन संयम और लज्जा का पालन है। संयम-लज्जा-पालक वस्त्रपात्रादि के रखने को भगवान् महावीर ने परिग्रह नहीं कहा है, अपितु उनमें मूर्च्छा करने को परिग्रह कहा है।

इन गाथाओं में आचार्य शय्यम्भव ने परिग्रहविषयक एक मान्यता का खण्डन कर दूसरी मान्यता की स्थापना की है, इससे सिद्ध है कि उनके समय में वस्त्र-पात्र-कम्बल आदि रखने को परिग्रह माननेवाली दिगम्बरीय विचारधारा प्रचलित थी। यह दिगम्बरजैनमत के पूर्ववर्तित्व का प्रमाण है।

ख—विशेषावश्यकभाष्य आदि ग्रन्थों में अचेलकधर्म को **जिनकल्प** का नाम देकर यह घोषित किया गया है कि वह (अन्तिम अनुबद्ध केवली) जम्बूस्वामी के निर्वाण के बाद व्युच्छिन्न हो गया। यह इस बात का प्रमाण है कि अचेलकपरम्परा अर्थात् दिगम्बरपरम्परा जम्बूस्वामी के पूर्व विद्यमान थी।

ग—उत्तराध्ययनसूत्र आदि ग्रन्थों में कहा गया है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों ने अचेलकधर्म का उपदेश दिया था और शेष बाईस तीर्थंकरों ने अचेल और सचेल दोनों धर्मों का। जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण आदि श्वेताम्बराचार्यों ने इन शब्दों की व्याख्या करते हुए कहा है कि सामान्य साधुओं के प्रसंग में **अचेलक** शब्द **श्वेत-जीर्ण-वस्त्रधारी सचेल** अर्थ का तथा **सचेल** शब्द **बहुमूल्य-पंचवर्ण-वस्त्रधारी सचेल** अर्थ का वाचक है। (अध्याय ३ / प्र.२ / शी. ३.२ तथा १४)। यह व्याख्या प्राकृत-संस्कृत भाषाओं तथा लोकभाषा के विरुद्ध है, अतः अप्रामाणिक है। इस कपोलकल्पित व्याख्या के द्वारा इन आचार्यों ने अचेलकधर्म अर्थात् दिगम्बरजैनपरम्परा के अस्तित्व को मिथ्या सिद्ध करने की कोशिश की है, किन्तु इसी कोशिश से सिद्ध होता है कि श्वेताम्बरसाहित्य उक्त परम्परा से सुपरिचित है। यह उसके पूर्वभाव का सबूत है।

घ—विशेषावश्यकभाष्य में अचेलत्व को संयमादि का घातक और वस्त्रधारण को संयमसाधक बतलाया गया है और इसलिए वस्त्रपात्रादि के मूर्च्छाहेतु होने का भी निषेध किया गया है। (अध्याय ३ / प्र.२ / शी. ६,७,१०)। इन दिगम्बर-मान्यताओं का खण्डन श्वेताम्बरसाहित्य के दिगम्बरमत से अभिज्ञ होने का प्रमाण है।

ङ.—विशेषावश्यकभाष्य में सामान्य मुनियों के लिए तीर्थंकरलिंग अर्थात् नग्नमुद्रा ग्रहण करने का निषेध किया गया है। (अध्याय ३ / प्र.२ / शी. ९)। इससे सिद्ध होता है कि श्वेताम्बरसाहित्य तीर्थंकरलिंग धारण करनेवाले दिगम्बरमुनियों की परम्परा से परिचित है। यह दिगम्बरपरम्परा के पूर्ववर्तित्व को सिद्ध करता है।

च—दिगम्बरमतानुसार नाग्न्यलिंग धारणकर कामविकार को जीतना **नाग्न्यपरीषहजय** या **अचेलपरीषहजय** है। विशेषावश्यकभाष्य में इसका खण्डन कर अनेषणीय वस्त्र धारण न कर एषणीय वस्त्र धारण करने को अचेलपरीषहजय कहा गया है। (अध्याय ३ / प्र.२ / शी. १३)। इस प्रकार अचेलपरीषहजय की दिगम्बरमान्य परिभाषा का खण्डन सिद्ध करता है कि श्वेताम्बरसाहित्य दिगम्बरमत से सुपरिचित है, अतः उसकी परम्परा बहुत पुरानी है।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

इस तरह श्वेताम्बरजैनसाहित्य में दिगम्बरजैनमान्यताओं के सकारात्मक और नकारात्मक दोनों रूपों में उल्लेख मिलते हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि दिगम्बरजैन-परम्परा श्वेताम्बरसाहित्य (आचारांग, स्थानांग, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि) के रचनाकाल से पूर्ववर्ती है।

७. दशवैकालिकसूत्र एवं विशेषावश्यकभाष्य में वस्त्रपात्रकम्बल आदि उपधि को संयम का साधन माना गया है, अत एव उसे मूर्च्छा का अहेतु मानकर परिग्रह की परिभाषा से अलग कर दिया गया है। किन्तु वस्त्रपात्रादि संयम के साधन नहीं हैं, अपितु असंयम के हेतु हैं तथा ध्यान, निर्जरा एवं मोक्ष में बाधक हैं, यह निम्नलिखित कारणों से सिद्ध होता है—

क—वस्त्रादि का ग्रहण शीतादि-परीषहपीड़ा से बचने के लिए अर्थात् देहसुख की प्राप्ति के लिए किया जाता है। देहसुख की इच्छा राग है और राग असंयम है। वस्त्रादि के परिभोग से उनमें जीवों की उत्पत्ति होती है, जिनकी शरीर से रगड़ होने पर एवं वस्त्रों के धोने-सुखाने आदि से हिंसा होती है। इस तरह वस्त्रपरिभोग असंयम का हेतु है।

ख—वस्त्रादिपरिग्रह चोरों से भय उत्पन्न करता है, सुरक्षा की चिन्ता पैदा करता है, याचना एवं धोने-सुखाने आदि की आकुलता उत्पन्न करता है। इन अपध्यानों का हेतु होने से वस्त्रादिपरिग्रह ध्यान-अध्ययन में बाधक है।

ग—वस्त्र धारण करने से शीत, उष्ण, दंशमशक आदि परीषह नहीं हो पाते, जिससे परीषहजय का अवसर न मिल पाने से निर्जरा में बाधा उत्पन्न होती है। परीषह-पीड़ानिवारक वस्तुओं का उपभोग मूर्च्छा का लक्षण है, क्योंकि वह शारीरिक दुःखनिवृत्ति एवं देह-सुखप्राप्ति की इच्छा से प्रेरित होता है।

घ—वस्त्रादि परिग्रह संयम में बाधक होने से ही मोक्ष में बाधक है। इसीलिए तीर्थंकरों ने उसका त्याग किया था। तीर्थंकरों के लिए मोक्ष में बाधक होने से सिद्ध है कि सामान्य साधुओं के लिए भी वस्त्रादिपरिग्रह मोक्ष में बाधक है, इसलिए उनके द्वारा भी वह त्याज्य है।

इस तरह वस्त्रादिपरिग्रह के मोक्ष में बाधक होने से सिद्ध है कि उत्तराध्ययन आदि में तीर्थंकरों द्वारा जिस अचेलकधर्म के उपदेश दिये जाने का उल्लेख है, वह अपने नामार्थ के अनुरूप अचेलक ही है, सचेल नहीं। और इसलिए अचेलक धर्म की परम्परा अर्थात् दिगम्बरजैन परम्परा, इस का उल्लेख करनेवाले आचारांगसूत्र, स्थानांग-सूत्र, दशवैकालिकसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र आदि श्वेताम्बर-साहित्य से पूर्ववर्ती है।

अध्याय ४—जैनेतर साहित्य में दिगम्बर जैन मुनियों की चर्चा

जैनेतर साहित्य अर्थात् वैदिक, बौद्ध एवं संस्कृत साहित्य में उपलब्ध प्रमाणों से भी दिगम्बरजैनमत की प्राचीनता सिद्ध होती है। वैदिक साहित्य से तात्पर्य वेदों के अनुयायी सम्प्रदाय के साहित्य से है। वर्तमान में इस सम्प्रदाय का नाम हिन्दूसम्प्रदाय है, जो इसका परम्परागत अथवा मौलिक नाम नहीं है। 'हिन्दू' शब्द सिन्धु नदी एवं उसके आस-पास के प्रदेश के लिए भारत में आनेवाले ईरानियों के मुख से निकला अस्वाभाविक शब्द है, क्योंकि वे 'स' का उच्चारण 'ह' करते थे। हिन्दूसम्प्रदाय का परम्परागत, मौलिक नाम वेदानुयायी होने के कारण वैदिकसम्प्रदाय है। वैदिक पुराणों और संस्कृतसाहित्य में जैनों, बौद्धों और चार्वाकों को **वेदबाह्य** और **अवैदिक** नामों से अभिहित किया गया है। इससे सिद्ध है कि वेदानुयायी सम्प्रदाय अपने को **वैदिक** शब्द से अभिहित करता था। इसके अनुसार प्रस्तुत ग्रन्थ में वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आदि के अतिरिक्त वेदों को प्रमाण माननेवाले रामायण, महाभारत, पुराण आदि धार्मिक ग्रन्थ वैदिक साहित्य में परिगणित किये गये हैं तथा संस्कृत में लिखित गद्य, पद्य नाट्य आदि काव्यात्मक साहित्य संस्कृतसाहित्य के अन्तर्गत रखा गया है।

वैदिकसाहित्य एवं संस्कृतसाहित्य में ऋग्वेद से लेकर ११वीं शताब्दी ई० तक के बीस से अधिक ग्रन्थों में दिगम्बरजैन मुनियों का उल्लेख किया गया है। एक पुराण में श्वेताम्बरमुनियों की भी चर्चा है। जिन ग्रन्थों में ये उल्लेख हैं, उनके रचनाकाल तथा जिन ऐतिहासिक या पौराणिक मानव-पात्रों के साथ दिगम्बरजैन मुनियों का वर्णन किया गया है, उनके स्थितिकाल से दिगम्बरजैनमत की प्राचीनता का निश्चय किया जा सकता है।

दिगम्बरमत के ग्रन्थों में बतलाया गया है कि दिगम्बरजैन मुनि **यथाजातरूपधर** (जन्म के समय जैसा रूप होता है, वैसे सर्वांगनिर्वस्त्र नग्नरूप को धारण करनेवाले) होते हैं, उनके हाथ में मयूरपिच्छी होती है, तथा जब कोई उनकी वन्दना करता है, तब वे उसे **धर्मवृद्धि हो** यह आशीर्वाद देते हैं। इसी प्रकार श्वेताम्बरग्रन्थों में श्वेताम्बर-मुनि को वस्त्र, पात्र, मुखवस्त्रिका, रजोहरण, कम्बल आदि अनेक उपकरणों का धारी तथा **धर्मलाभ** का आशीर्वाद देनेवाला वर्णित किया गया है। वैदिकसाहित्य एवं संस्कृतसाहित्य में दिगम्बर और श्वेताम्बर मुनि इसी रूप में चित्रित किये गये हैं। दोनों साहित्यों को मिश्रित कर कालक्रमानुसार उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं—

ऋग्वेद (१०/१३६/२-३) में **'मुनयो वातरशना: पिशंगा वसते मला'** आदि शब्दों से दिगम्बरजैन मुनियों की चर्चा की गयी है। **वातरशन** का अर्थ है वायुरूपी कटिवस्त्रधारी अर्थात् नग्न। ऋग्वेद में **शिश्नदेव** शब्द से नग्न देवों (तीर्थंकरों) का कथन किया गया है।

अथर्ववेद एवं **ब्राह्मणग्रन्थों** में **यति** एवं **व्रात्य** शब्द दिगम्बरजैन मुनियों का अस्तित्व द्योतित करते हैं।

तैत्तिरीयारण्यक में भी **वातरशन श्रमण** नाम से दिगम्बरजैन मुनियों का अभिधान हुआ है।

८०० ईसापूर्व के महर्षि यास्क-विरचित **निघण्टु** में दिगम्बरजैन मुनियों को **दिगम्बर** एवं **वातवसन** (वायुरूपी-वस्त्रधारी) शब्द से अभिहित किया गया है। **महाभारत** (५०० ई० पू०—१०० ई० पू०) में उत्तंक ऋषि के कुण्डलों का अपहरण करने के लिए तक्षक नाग द्वारा **नग्नक्षपणक** (दिगम्बरजैन साधु) का रूप धारण किये जाने का वर्णन है। यह घटना हिन्दूकालगणना के अनुसार द्वापरयुग की अर्थात् आज से आठ लाख चौंसठ हजार वर्ष पूर्व की है। इससे दिगम्बरजैन-परम्परा की अतिप्राचीनता प्रकट होती है। तथा ईसापूर्व-रचित **महाभारत** ग्रन्थ में **नग्नक्षपणक** का उल्लेख होने से भी दिगम्बरजैनमत का ईसापूर्ववर्ती होना सिद्ध है।

नग्नक्षपणक या **क्षपणक** शब्द समस्त दिगम्बरजैन ग्रन्थों, श्वेताम्बरजैन ग्रन्थों, वैदिक ग्रन्थों एवं संस्कृत गद्य-पद्य-नाट्य साहित्य में दिगम्बर जैन मुनि के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। श्वेताम्बराचार्य श्री विजयानन्द सूरीश्वर 'आत्माराम' जी ने अपने **तत्त्वनिर्णयप्रासाद** ग्रन्थ में **नग्नक्षपणक** शब्द को श्वेताम्बर-जिनकल्पी साधु का वाचक और मुनि श्री कल्याणविजय जी ने **क्षपणक** (क्षमण > क्षपण > क्षपणक) शब्द को यापनीयसाधु का पर्यायवाची माना है, ये दोनों मान्यताएँ अप्रामाणिक हैं। (देखिये, अध्याय ४ / प्रकरण १ / शीर्षक २८ एवं ३० तथा अध्याय ४ / प्रकरण २ / शीर्षक १९)।

चाणक्यशतक (४०० ई० पू०) में "**नग्नक्षपणके देशे रजकः किं करिष्यति**" इन शब्दों में दिगम्बरजैन मुनि का उल्लेख किया गया है। **पञ्चतन्त्र** (३०० ई०) के अपरीक्षितकारक की मणिभद्रश्रेष्ठिकथा में दिगम्बरजैन मुनियों का वर्णन है, जो उनके लिए प्रयुक्त **नग्नक, क्षपणक** और **दिगम्बर** शब्दों से तथा उनके द्वारा दिये गये **धर्मवृद्धि** के आशीर्वाद से सूचित होता है। भासकृत नाटक **अविमारक** में '**जदि वत्थं अवणेमि समणओ होमि**' (यदि मैं वस्त्र उतार दूँ, तो श्रमण बन जाऊँगा) इस वाक्य द्वारा दिगम्बरजैन मुनि की चर्चा की गयी है। **मत्स्यपुराण** (३०० ई०) में दिगम्बरजैन साधु के लिए **निष्कच्छ**, **निर्ग्रन्थ** और **नग्न** शब्दों का प्रयोग हुआ है।

विष्णुपुराण ३००-४०० ई० की रचना है। उसमें देवासुर-संग्राम के पूर्व असुरों को दिगम्बरजैनधर्म में दीक्षित किये जाने का वर्णन है। वैदिक **पद्मपुराण** के अनुसार छठे मन्वन्तर में उत्पन्न राजा वेन ने दिगम्बरजैनधर्म स्वीकार किया था। एक मन्वन्तर

४३ लाख, बीस हजार वर्षों का होता है। इस समय सातवाँ मन्वन्तर चल रहा है। इससे सिद्ध होता है कि दिगम्बरजैन-परम्परा लाखों वर्ष पुरानी है।

मुद्राराक्षस नामक नाटक (४००-५०० ई०) में दिगम्बर जैन साधु को **क्षपणक** और **बीभत्सदर्शन** (नग्न होने के कारण कुरूप) शब्दों से अभिहित किया गया है। **वायुपुराण** (५०० ई०) में दिगम्बरजैन मुनि **नग्न** एवं **निर्ग्रन्थ** शब्दों से, **वराहमिहिर-बृहत्संहिता** (४९० ई०) में **नग्न, दिग्वासस्** और **निर्ग्रन्थ** नामों से तथा **भागवतपुराण** (६०० ई०) में **वातरशन श्रमण** एवं **गगनपरिधान** संज्ञाओं से वर्णित हैं। संस्कृत के सुप्रसिद्ध गद्यकवि बाणभट्ट (७वीं शती ई०) ने **कादम्बरी** और **हर्षचरित** नामक गद्यग्रन्थों में **क्षपणक, आर्हत, नग्नाटक** और **मयूरपिच्छधारी** शब्दों से दिगम्बरजैन मुनियों का वर्णन किया है। **कूर्मपुराण** (७०० ई०) एवं **ब्रह्माण्डपुराण** में उनके लिए **निर्ग्रन्थ** और **नग्न** शब्द प्रयुक्त हुए हैं। **लिंगपुराण** में भगवान् ऋषभदेव को **नग्न** निरूपित किया गया है। **न्यायकुसुमाञ्जलि** नामक न्यायग्रन्थ में उदयनाचार्य (९८४ ई०) ने **निरावरण** और **दिगम्बर** शब्द प्रयुक्त कर, **न्यायमञ्जरी** नामक न्याय ग्रन्थ में जयन्तभट्ट (१००० ई०) ने **दिगम्बर** कहकर और कृष्णमिश्र ने **प्रबोधचन्द्रोदय** (१०६५ ई०) नामक नाटक में **विमुक्तवसन, क्षपणक** तथा **दिगम्बर** अभिधानों से दिगम्बरजैन साधुओं की चर्चा की है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिकयुग से लेकर ईसा की ११वीं शताब्दी तक के वैदिक एवं संस्कृत साहित्य में दिगम्बरजैन मुनियों के उल्लेख मिलते हैं। अतः दिगम्बरजैन-परम्परा वैदिककाल (कम से कम १५०० ई० पू०) से पूर्ववर्ती है। **महाभारत** और वैदिक **पद्मपुराण** के आख्यानों के अनुसार तो दिगम्बरजैन-परम्परा द्वापरयुग (आज से आठ लाख चौंसठ हजार वर्ष पूर्व) तथा छठे मन्वन्तर (आज से लाखों वर्ष पूर्व) में विद्यमान थी।

श्वेताम्बराचार्य श्री विजयानन्द सूरीश्वर 'आत्माराम' जी (ई० सन् १९२० के लगभग) ने **महाभारत** में उल्लिखित **नग्नक्षपणक** को श्वेताम्बरपरम्परा का जिनकल्पिक साधु माना है। (तत्त्वनिर्णयप्रासाद / पृ.५१४)। किन्तु यह सर्वथा असमीचीन है। सम्पूर्ण दिगम्बरीय, श्वेताम्बरीय, वैदिक एवं संस्कृत साहित्य तथा शब्दकोषों में **क्षपणक** शब्द दिगम्बरजैन मुनि के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। (देखिये, अध्याय ४ / प्र. १ / शी. ५)।

श्वेताम्बरमुनि श्री कल्याणविजय जी ने **क्षपणक** शब्द को यापनीयसाधु का वाचक बतलाया है। यह भी सर्वथा मिथ्या है। किसी भी सम्प्रदाय के साहित्य में या किसी भी संस्कृत या प्राकृत के शब्दकोश में 'क्षपणक' शब्द का अर्थ 'यापनीय साधु' नहीं बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त भारतीय साहित्य में 'क्षपणक' शब्द का प्रयोग यापनीयों

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

की उत्पत्ति के बहुत पहले से मिलता है। 'महाभारत' की रचना ई० पू० ४०० से ई० पू० १०० के बीच हुई थी। इसमें नग्नक्षपणक का उल्लेख है, जब कि यापनीयसम्प्रदाय की उत्पत्ति ईसा की पाँचवीं शताब्दी के प्रारंभ में हुई थी। (देखिये, अध्याय ७ / प्र.१/ शी. १०)। आजिविकसाधु की भी क्षपणक संज्ञा संभव नहीं है। (देखिये, अध्याय ४/ प्र. १ / शी.३३)।

बौद्ध पिटकसाहित्य में ईसापूर्व छठी शती के बुद्धवचनों का संकलन है, जो ईसापूर्व प्रथम शताब्दी में लिपिबद्ध हो चुका था। उसके अन्तर्गत सुत्तपिटक के **अंगुत्तर-निकाय** नामक ग्रन्थ में **निर्ग्रन्थों** (दिगम्बरजैन मुनियों) को **अहिरिका** (अह्रीक=निर्लज्ज) कहा गया है, जिससे उनका नग्न रहना सूचित होता है। अंगुत्तरनिकाय में ही उन्हें **अचेल** शब्द से भी अभिहित किया गया है। प्रथम शती ई० के बौद्धग्रन्थ **दिव्यावदान** में निर्ग्रन्थों को नग्न विचरण करनेवाला वर्णित किया गया है। **धम्मपद-अट्ठकथा** (४-५वीं शती ई०) की विसाखावत्थु-कथा में भी निर्ग्रन्थों को नग्नवेशधारी ही बतलाया गया है तथा आर्यशूर (चौथी शती ई०) ने संस्कृत में रचित **जातकमाला** में निग्रन्थों को वस्त्रधारण करने के कष्ट से मुक्त कहा है।

किन्तु, मुनि श्री कल्याणविजय जी ने इन बौद्धग्रन्थों में उपलब्ध नग्न निर्ग्रन्थों के उल्लेखों को यापनीय साधुओं का उल्लेख माना है, जो अत्यन्त अप्रामाणिक है। **निर्ग्रन्थ** और **यापनीय** भिन्न सम्प्रदायों के नाम हैं, यह पाँचवी शती ई० के कदम्बवंशी राजा मृगेशवर्मा के हल्सी ताम्रपत्रलेख (क्र० ९९) से स्पष्ट है। (देखिये, अध्याय ४/ प्र. २ / शी.१९)। तथा यापनीयसम्प्रदाय का उदय ईसा की पाँचवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ था, जब कि **दिव्यावदान** ईसा की प्रथम शताब्दी का ग्रन्थ है। तथा उन्होंने (मुनि श्री कल्याणविजय जी ने) श्वेताम्बरसम्प्रदाय की प्राचीनता प्रमाणित करने के लिए बौद्धग्रन्थ **अंगुत्तरनिकाय** में वर्णित '**निगण्ठा एकसाटका**' इत्यादि वाक्य में आये **एकसाटक** (एकशाटक) शब्द को निर्ग्रन्थ का विशेषण मानकर **एकवस्त्रधारी श्वेताम्बर-साधु** का बोधक मान लिया है, जो उनकी महान् भ्रान्ति है। और दिगम्बर जैन विद्वान् कामताप्रसाद जी जैन ने यह समझ लिया है कि वह निर्ग्रन्थसम्प्रदाय के **क्षुल्लक** नामक उत्कृष्ट श्रावक का वाचक है। यह भी भ्रान्तिपूर्ण धारणा है। 'एकसाटक' शब्द 'निर्ग्रन्थ' का विशेषण नहीं है, अपितु निर्ग्रन्थों से भिन्न **एकसाटक** (एक वस्त्रधारी) नाम से प्रसिद्ध **सम्प्रदाय-विशेष** के साधुओं का बोधक स्वतंत्र शब्द है। यह सुत्तपिटक-खुद्दकनिकाय के **उदानपालि** नामक प्राचीन ग्रन्थ से सिद्ध है। (देखिये, अध्याय ४ / प्र. २ / शी. ८)।

इसी प्रकार **मज्झिमनिकायपालि** (१. मूलपण्णासक) के **महासच्चकसुत्त** में निर्ग्रन्थपुत्र सच्चक ('**सच्चको निगण्ठपुत्तो**'), अचेलक और पाणितलभोजी आजीविक

साधुओं के आचारगत दोषों का वर्णन करता है। निर्ग्रन्थपुत्र सच्चक निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय के (निर्ग्रन्थों के अनुयायी) श्रावक का गृहस्थ पुत्र था। किन्तु मुनि श्री कल्याणविजय जी ने उसके साथ 'निर्ग्रन्थ' शब्द जुड़ा होने से उसे निर्ग्रन्थ-साधु मान लिया और निर्णय दे दिया कि 'सच्चक' श्वेताम्बर जैन साधु था, क्योंकि यदि वह दिगम्बरजैन साधु होता, तो अचेलत्व और पणितलभोजित्व का उपहास नहीं करता। मुनि जी का यह निर्णय समीचीन नहीं है, क्योंकि सच्चक निर्ग्रन्थ साधु नहीं था, अपितु निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय का श्रावक था, यह उसके **निर्ग्रन्थपुत्र** विशेषण से ही स्पष्ट है। दूसरे, उसने आजिविक साधुओं के अचेलकत्व और पाणितलभोजित्व की निन्दा नहीं की, अपितु स्वेच्छाचार एवं भोजन करते समय हाथ चाटने आदि अशोभनीय प्रवृत्तियों की निन्दा की है। इसके अतिरिक्त **दीघनिकायपालि** (भाग १) के **महासीहनादसुत्त** में **अचेल काश्यप** अचेल (नग्न निर्ग्रन्थ) साधु होते हुए भी आजिविक साधुओं के उक्त आचार की निन्दा करते हैं। इससे अचेल काश्यप का सचेल श्वेताम्बर साधु होना सिद्ध नहीं होता। (देखिये, अध्याय ४/ प्र. २/ शी. ९, १०, ११)। तथा मुनि कल्याणविजय जी का यह कथन भी समीचीन नहीं है कि बौद्धसाहित्य में कहीं भी जैनश्रावकों को 'निगण्ठ' शब्द से अभिहित नहीं किया गया है। **निगण्ठपुत्त** शब्द सच्चक के निर्ग्रन्थसम्प्रदाय के श्रावकपुत्र होने का ही सूचक है, क्योंकि मुनियों के पुत्र नहीं होते। **जातक अट्ठकथा** (तृतीयभाग) की **चूलकालिङ्ग-जातकवण्णना** में भी निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय के श्रावक को **निर्ग्रन्थ** शब्द से एवं श्राविका को **निर्ग्रन्थी** शब्द से अभिहित किया गया है। (देखिये, अध्याय ४/ प्र.२/ शी. १२)।

श्वेताम्बरमुनि श्री नगराज जी ने **धम्मपद-अट्ठकथा** की **निगंठवत्थु** एवं **कुण्डलकेसित्थेरीवत्थु** में तथा **थेरीगाथा-अट्ठकथा** की **भद्दाकुण्डलकेसा-थेरीगाथावण्णना** में वस्त्रधारी निर्ग्रन्थों की चर्चा होने की बात कही है, किन्तु यह सत्य नहीं है। इन तीनों कथाओं में 'निगण्ठ' शब्द के साथ 'वस्त्रधारी' विशेषण नहीं है। धम्मपद-अट्ठकथा की **निगंठवत्थु अट्ठकथा** में तो स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि ये निर्ग्रन्थ **ह्रीकौपीनाङ्ग** (लज्जाजनक गोपनीय अंग) को प्रच्छादित नहीं करते। (देखिये, अध्याय ४/प्र.२/ शी. १६, १७)।

इस प्रकार बौद्धसाहित्य में श्वेताम्बरमुनियों को कहीं भी 'निर्ग्रन्थ' शब्द से अभिहित नहीं किया गया है। सुत्तपिटक-खुद्दकनिकाय के ही अशोककालीन (अथवा ईसापूर्व प्रथम शताब्दी में रचित) **अपदान** नामक ग्रन्थ में श्वेताम्बर साधुओं के लिए **सेतवत्थ** (श्वेतवस्त्र) संज्ञा प्रयुक्त की गयी है। (अध्याय ४/ प्र.२/ शी. १, २)। वैदिक पुराणों में भी उनके लिए 'निर्ग्रन्थ' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। श्वेताम्बरसाधु का वर्णन केवल **शिवमहापुराण** में मिलता है। उसमें उन्हें 'निर्ग्रन्थ' शब्द से अभिहित

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

न कर म्लानवस्त्र, तुण्डवस्त्र (मुखवस्त्रिका), गुम्फिपात्र, और मार्जनी (रजोहरण) धारण करनेवाला तथा 'धर्मलाभ' का आशीर्वाद देनेवाला, इन विशेषणों से वर्णित किया गया है। (अध्याय ४/प्र.१/शी.२९)।

ईसापूर्व छठी शती के त्रिपिटक-संगृहीत बुद्धवचनों में निर्ग्रन्थों को **अहीक, अचेल** और **नग्न** विशेषणों से अभिहित किया गया है, इससे सिद्ध है कि दिगम्बरजैन-परम्परा ईसापूर्व छठी शती से पूर्ववर्ती है।

अध्याय ५—पुरातत्त्व में दिगम्बर-परम्परा के प्रमाण

सिन्धुघाटी के उत्खनन में मोहेन-जो-दड़ो और हड़प्पा से ई० पू० २४०० वर्ष पहले की सभ्यता के जो अवशेष प्राप्त हुए हैं, उनमें हड़प्पा से एक मस्तकविहीन कायोत्सर्ग-ध्यानमुद्रा में नग्न मूर्ति भी उपलब्ध हुई है। पुरातत्त्वविदों का मत है कि वह जैन तीर्थंकर या दिगम्बरजैन साधु की प्रतिमा है। लोहानीपुर (पटना, बिहार) में भी बिलकुल ऐसी ही मौर्यकालीन (ई० पू० तृतीय शताब्दी की) नग्न जिनप्रतिमा प्राप्त हुई है। दोनों प्रतिमाओं में आश्चर्यजनक साम्य है। इससे इस बात की पुष्टि होती है कि हड़प्पा से प्राप्त उक्त प्रतिमा जिनप्रतिमा ही है। ये प्राचीन नग्न जिनप्रतिमाएँ इस बात का सबूत हैं कि दिगम्बरजैन-परम्परा ईसापूर्व २४०० वर्ष तथा ईसापूर्व ३०० वर्ष से भी पुरानी है।

श्वेताम्बर-परम्परा में नग्न जिनप्रतिमाओं का निर्माण कभी नहीं हुआ, क्योंकि श्वेताम्बर नग्नत्व को अश्लील एवं लोकमर्यादा के विरुद्ध मानते हैं। इसलिए उन्होंने यह कल्पना की है कि तीर्थंकरों का नग्न शरीर दिव्य शुभप्रभा-मण्डल से ढँक जाता है, फलस्वरूप वे नग्न दिखाई नहीं देते। श्वेताम्बरग्रन्थ **प्रवचनपरीक्षा** के अनुसार गिरनारतीर्थ के स्वामित्व को लेकर हुए विवाद (संभवतः छठी शती ई०) के पूर्व तक जिनप्रतिमाएँ भी ऐसी ही बनायी जाती थीं, जिनमें जिनेन्द्र न तो सवस्त्र दिखाई देते थे, न नग्न। अर्थात् प्रतिमाओं में गुह्यांगों-वाला भाग सपाट रखा जाता था। जिन तीर्थंकर-प्रतिमाओं में गुह्यांग दिखाई देते हों, वे श्वेताम्बर-मतानुसार जिनसदृश न होने से जिनबिम्ब नहीं कहला सकती थीं, फलस्वरूप वे उनके लिए पूज्य नहीं हो सकती थीं। इस कारण जब ईसापूर्व द्वितीय-तृतीय शती में श्वेताम्बरमतानुयायी सम्राट् सम्प्रति ने सर्वप्रथम श्वेताम्बर जिन-प्रतिमाओं और मन्दिरों का सम्पूर्ण भारत में निर्माण कराया, तब अनग्न और निर्वस्त्र जिनप्रतिमाएँ ही बनवायीं। (अ.५/प्र.१/शी.१,२,३)। यद्यपि डॉ० यू० पी० शाह एवं स्थानकवासी-सम्प्रदाय के श्वेताम्बराचार्य श्री हस्तीमल जी का कथन है कि ऐसी एक भी जिनप्रतिमा आज तक किसी मन्दिर में या उत्खनन में उपलब्ध नहीं हुई। इस तथ्य के आधार पर आचार्य श्री हस्तीमल जी ने अपना यह मन्तव्य व्यक्त किया

है कि वस्तुतः प्राचीनकाल में श्वेताम्बरसम्प्रदाय में मूर्ति-पूजा प्रचलित ही नहीं थी, इसलिए छठी शताब्दी ई० के पूर्व तक श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में न तो किसी जिनप्रतिमा का निर्माण हुआ और न कोई जिनमन्दिर बनवाया गया। (अ. ५ / प्र. ३ / शी. २)।

प्रत्यक्षप्रमाण से उपर्युक्त कथन सत्य प्रतीत होता है। **प्रवचनपरीक्षा** ग्रन्थ में श्वेताम्बरमुनि उपाध्याय धर्मसागर जी ने लिखा है कि गिरनारविवाद के पश्चात् जिनप्रतिमाओं के स्वामित्व के विषय में आगे कोई विवाद न हो, इस विचार से श्वेताम्बरों ने अपने द्वारा बनवायी जानेवाली प्रतिमाओं के पादमूल में पल्लवचिह्न (वस्त्रपट्टिका का आकार) बनवाना शुरू कर दिया, तथा दिगम्बर स्वनिर्मापित प्रतिमाओं में लिंगादि-गुह्यांगों की रचना कराने लगे। (अध्याय ५/प्र.१/शी.२)। ऐसी जो श्वेताम्बर-जिन-प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं, वे छठी शती ई० के बाद ही निर्मित हुई हैं। मथुरा के कंकालीटीले में उपलब्ध कुषाणकालीन (प्रथम शताब्दी ई० की) नग्न तीर्थंकर मूर्तियाँ श्वेताम्बरों द्वारा प्रतिष्ठापित नहीं हैं, अपितु जिन तीर्थंकर-मूर्तियों के पादपीठ या आयागपट्ट पर अर्धफालकधारी साधु की मूर्ति उत्कीर्ण है, वे अर्धफालक-सम्प्रदाय द्वारा प्रतिष्ठापित की गयी थीं। इस सम्प्रदाय को नग्न जिनमूर्तियों के दर्शन-पूजन से परहेज नहीं था। अन्य नग्न जिनप्रतिमाएँ दिगम्बरों द्वारा प्रतिष्ठापित हुई थीं। (अध्याय ५ / प्र.१ / शी. ६, ७, ८)।

ईसा की छठी शताब्दी के पहले की कोई भी गुह्यांगाकार-रहित अथवा पल्लव-चिह्नयुक्त जिनप्रतिमा उपलब्ध न होने से पं० नाथूराम जी प्रेमी, डॉ० यू० पी० शाह, डॉ० सागरमल जी जैन आदि विद्वानों का मत है कि ईसा की छठी सदी के पूर्व तक दिगम्बरों और श्वेताम्बरों के मन्दिर और प्रतिमाएँ अलग-अलग नहीं थीं, वे एक ही मन्दिर में एक ही नग्न जिनप्रतिमा की पूजा-उपासना करते थे। (अध्याय ५/ प्र.१/शी.२ एवं ९.१)।

यह मत प्रमाणविरुद्ध है। छठी शती ई० के पूर्व भी निर्ग्रन्थों, यापनीयों और कूर्चकों के मन्दिर अलग-अलग थे और उनका स्वामित्व अलग-अलग था, यह शिलालेखों से प्रमाणित है। (अध्याय ५ / प्र.१ / शी. ९.१)। अतः यदि श्वेताम्बरसंघ भी मूर्तिपूजक था, तो ईसा की छठी शती के पूर्व उसके भी स्वतन्त्र मन्दिर रहे होंगे।

उक्त मत मानवस्वभाव के विरुद्ध होने से अयुक्तियुक्त भी है। जिन संघों के साधुओं का सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, केवलिभुक्ति आदि की मान्यताओं के विषय में गंभीर मतभेद होने के कारण साथ-साथ रहना दूभर हो गया था, जिनमें एक साधुसंघ मल्लिनाथ को स्त्री मानता था और दूसरा पुरुष, जो एक-दूसरे के आगमों को स्वकल्पित बतलाते थे और एक-दूसरे के मत को मिथ्यामत, उनका किसी एक मन्दिर में प्रतिदिन पूजा-उपासना करना संभव नहीं था। क्योंकि धार्मिक विरोधियों का धार्मिक स्थल और

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

धार्मिक क्रियाओं में दैनिक सान्निध्य धार्मिक मतभेदों की याद दिलाता है और उन्हें प्रकट होने का अवसर देता है, जिससे विवाद और कलह अवश्यंभावी है। तथा सामूहिक मन्दिर और उसे दान में मिली सम्पत्ति स्वामित्व के संघर्ष को जन्म देती है, जो हिंसात्मक प्रवृत्तियों में परिणत हो जाता है। इसलिए विभक्त हुए विरोधी सम्प्रदाय ऐसे अवसरों को टालते हैं, अर्थात् अपने पूजा-उपासना के स्थान भी अलग कर लेते हैं। दिगम्बरों और श्वेताम्बरों के सामने ऐसी कोई मजबूरी भी नहीं थी, कि इतने गंभीर मतभेद के बाद भी एक ही मन्दिर में अपनी मान्यताओं के विरुद्ध निर्मित जिनप्रतिमा को जिनबिम्ब मानकर पूजते रहते। (अध्याय ५ / प्र. १ / शी. ९.२)।

उक्त मत सिद्धान्त-विरुद्ध भी है। जो श्वेताम्बरसंघ नग्न जिनप्रतिमा को जिनबिम्ब ही न मानता हो, उसके द्वारा उसकी पूजा किया जाना असंभव है।

वस्तुतः मन्दिर तो उसी दिन अलग-अलग हो गये होंगे, जिस दिन भिन्न विचाराधारा को लेकर साधुओं का एक वर्ग निर्ग्रन्थसंघ से अलग हुआ था। जहाँ पुरुषतीर्थंकर और स्त्रीतीर्थंकर के मतभेद एवं उपासनापद्धति की भिन्नता के कारण मन्दिर ही मतभेद का कारण बन गया हो, वहाँ सम्प्रदायभेद हो जाने पर भी मन्दिर अलग न हो, यह संभव नहीं है। यदि ईसा की छठी सदी के पहले की श्वेताम्बर-सिद्धान्तानुसार बनी जिनप्रतिमा उपलब्ध नहीं हुई, तो श्वेताम्बराचार्य हस्तीमल जी का यही निष्कर्ष युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि उस समय तक श्वेताम्बरसम्प्रदाय में मूर्तिपूजा प्रचलित नहीं हुई थी, किन्तु यह अटकल कदापि युक्तिसंगत नहीं है कि उस समय तक श्वेताम्बरों और दिगम्बरों के मंदिर अलग-अलग नहीं थे और वे एक ही मन्दिर में नग्न जिनप्रतिमा की पूजा-उपासना करते थे।

अभिप्राय यह कि हड़प्पा और लोहानीपुर से उपलब्ध नग्न जिनप्रतिमाओं और मथुरा के कंकालीटीले से प्राप्त कुछ नग्न तीर्थंकरमूर्तियों से सिद्ध होता है कि दिगम्बरजैन-परम्परा ईसा से कम से कम ढाई हजार वर्ष पुरानी है।

अभिलेखों से भी दिगम्बरजैन-परम्परा की प्राचीनता सिद्ध होती है। सम्राट् अशोक (ईसापूर्व तृतीय शती) के सातवें देहली-टोपरा-स्तम्भलेख में सभी धार्मिक सम्प्रदायों तथा ब्राह्मणों, आजीविकों और **निर्ग्रन्थों** के कल्याणकारी कार्यों की देख-रेख के लिए धर्ममहामात्य नियुक्त किये जाने का उल्लेख है। पाँचवीं शती ई० के कदम्बवंशी राजा श्रीविजयशिवमृगेशवर्मा के देवगिरि-ताम्रपत्रलेख (क्र. ९८) में लिखित है कि उसने कालवंग नामक ग्राम का एकभाग जिनालय के लिये, दूसरा भाग श्वेतपटमहाश्रमणसंघ के लिए तथा तीसराभाग **निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघ** के लिए दान किया था। राजा मृगेशवर्मा (४७०-४९० ई०) के हल्सी-ताम्रपत्र-लेख (क्र.९९) में यापनीयों और कूर्च्चकों के

साथ **निर्ग्रन्थों** को भूमिदान का वर्णन है। (देखिये, अध्याय २ / प्र. ६ / शी. २)। इस तरह अभिलेख भी इस तथ्य के प्रमाण हैं कि निर्ग्रन्थश्रमणसंघ अर्थात् दिगम्बरजैन-परम्परा सम्राट् अशोक के काल (ईसापूर्व तृतीय शताब्दी) से पूर्ववर्ती है।

अध्याय ६—दिगम्बर-श्वेताम्बर-भेद का इतिहास

प्रायः सभी दिगम्बरजैनों की यह धारणा है कि दिगम्बर-श्वेताम्बर-भेद ईसापूर्व चौथी शताब्दी में श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय में द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष के फलस्वरूप हुआ था। किन्तु यह धारणा संशोधनीय है। श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय में दिगम्बर-श्वेताम्बर-भेद नहीं हुआ था, अपितु दिगम्बर-अर्धफालक-भेद हुआ था। दिगम्बर-श्वेताम्बर-भेद तो जम्बूस्वामी के निर्वाण (वीर नि० सं० ६२ = ४६५ ई० पू०) के पश्चात् ही हो गया था। इसका प्रमाण यह है कि उनके निर्वाण के पश्चात् ही दोनों सम्प्रदायों की गुरु-शिष्य-परम्परा अलग-अलग हो गयी थी। दिगम्बर-परम्परा में जम्बूस्वामी के बाद क्रमशः विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु इन पाँच श्रुतकेवलियों के नाम मिलते हैं, जब कि श्वेताम्बरपरम्परा में प्रभव, शय्यम्भव, यशोभद्र, सम्भूतिविजय और भद्रबाहु के नाम हैं। गुरु-शिष्यपरम्परा में यह भेद स्पष्टतः संघ-भेद का सूचक है। (अ. ६ / प्र. १ / शी. ३)।

निर्ग्रन्थसंघ से पहली बार तो श्वेताम्बरसंघ की उत्पत्ति शीतादिपरीषहों की पीड़ा सहने में असमर्थ साधुओं के अचेलत्व को छोड़कर वस्त्रपात्र-कम्बल आदि ग्रहण कर लेने से हुई थी, किन्तु दूसरी बार उससे (निर्ग्रन्थसंघ से) अर्धफालकसंघ का जन्म द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष के कारण आहारप्राप्ति में उत्पन्न कठिनाइयों के फलस्वरूप हुआ था। अर्धफालक साधु नग्न रहते थे, किन्तु वायें हाथ पर सामने की ओर आधा वस्त्र लटकाकर गुह्यांग छिपाते थे। इस कारण वे अर्धफालक नाम से प्रसिद्ध हुए। भिक्षा लाने के लिए वे पात्र भी रखते थे। उनका अस्तित्व ईसा की प्रथम शताब्दी तक बना रहा। बाद में वे श्वेताम्बर सम्प्रदाय में विलीन हो गये। (अ. ६ / प्र. १ / शी. १०)। मथुरा के कंकालीटीले में उपलब्ध अनेक नग्न जिनप्रतिमाएँ इसी सम्प्रदाय के द्वारा बनवायी गयी थीं।

डॉ० सागरमल जी ने एक बहुत ऊँची, बहुलक्ष्यसाधक, ऐतिहासिक कल्पना की है। उन्होंने कल्पित किया है कि निर्ग्रन्थसंघ दो थे : उत्तरभारतीय और दक्षिणभारतीय। उत्तरभारतीय निर्ग्रन्थसंघ सचेलाचेल था और महावीर द्वारा प्रणीत था तथा दक्षिण भारतीय निर्ग्रन्थसंघ अचेल था और उसकी नींव विक्रम की छठी सदी में दक्षिणभारत के आचार्य कुन्दकुन्द ने डाली थी। ईसा की पाँचवीं शती के प्रारम्भ में उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ का विभाजन हुआ, जिससे सचेलता के पक्षधर श्वेताम्बरसंघ

की तथा अचेलता के पक्षधर यापनीयसंघ की उत्पत्ति हुई। अर्थात् भगवान् महावीर-प्रणीत निर्ग्रन्थसंघ के विभाजन से दिगम्बर-श्वेताम्बर-संघभेद नहीं हुआ, अपितु श्वेताम्बर-यापनीय-संघभेद हुआ। इस कल्पना से डॉक्टर सा० ने निम्नलिखित लक्ष्य साधने की चेष्टा की है—

१. श्वेताम्बरमत को सर्वज्ञ-महावीर-प्रणीत सम्यक् मत और दिगम्बरजैनमत को छद्मस्थप्रणीत निह्नवमत (मिथ्यामत) सिद्ध करना।

२. महावीर के तीर्थ को सचेलाचेल सिद्ध करना।

३. श्वेताम्बरों और यापनीयों को ही महावीर की परम्परा का उत्तराधिकारी ठहराना।

४. और इस प्रकार जो ग्रन्थ श्वेताम्बरों का नहीं है और स्पष्टतः यापनीयों का भी नहीं है, किन्तु जिसकी कुछ विषयवस्तु श्वेताम्बरग्रन्थों की विषयवस्तु से मिलती-जुलती है, उसे यदि वह यापनीयसम्प्रदाय की उत्पत्ति के पूर्व रचा गया है, तो उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ के आचार्यों द्वारा रचित सिद्ध करना और यदि उसके बाद रचा गया है, तो उस संघ के उत्तराधिकारी यापनीयसंघ के आचार्य द्वारा रचित बतलाना और इस तरह उसके दिगम्बरग्रन्थ होने का अपलाप करना। (अध्याय २/प्र. ३ /शी.१)।

डॉक्टर सा० का उपर्युक्त मत सर्वथा कपोलकल्पित है। उत्तरभारत में तो क्या, भारत के किसी भी कोने में, कभी भी, सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ का अस्तित्व नहीं था। इसके निम्नलिखित प्रमाण हैं—

१. भगवान् महावीर ने सचेलाचेल धर्म का नहीं, अपितु अचेलकधर्म का उपदेश दिया था, यह श्वेताम्बरीय उत्तराध्ययनसूत्र की '**अचेलगो य जो धम्मो**' (२३/२९) इस गाथा से ही सिद्ध है। अचेलकधर्म का उपदेश देने से यह भी सिद्ध है कि तीर्थंकर महावीर ने अचेलक साधु को ही **निर्ग्रन्थ** शब्द से अभिहित किया है, अतः उनके द्वारा प्रणीत निर्ग्रन्थसंघ अचेल ही था, सचेलाचेल नहीं। (अध्याय २/प्र. ३ / शी. ३)।

२. समस्त दिगम्बरजैन साहित्य, सम्पूर्ण वैदिक (हिन्दू) साहित्य, सकल बौद्ध-साहित्य, संस्कृतसाहित्य और निर्ग्रन्थसंघ या मूलसंघ का उल्लेख करनेवाले सभी शिलालेखों एवं ताम्रपत्रों में तीर्थंकर महावीर और उनके अनुयायी दिगम्बर साधुओं को ही **निर्ग्रन्थ** शब्द से सम्बोधित किया गया है। इससे भी प्रमाणित है कि महावीर का अनुयायी निर्ग्रन्थसंघ अचेल ही था।

३. श्वेताम्बरग्रन्थ **विशेषावश्यकभाष्य** में साध्वाचार के दो भेद माने गये हैं—जिनकल्प और स्थविरकल्प। इनमें जिनकल्प को अचेल और स्थविरकल्प को सचेल

कहा गया है, किन्तु वास्तव में दोनों सचेल हैं। (अध्याय २/प्र. ३/शी. ३.३)। जम्बूस्वामी के निर्वाण के बाद उनमें से कटिवस्त्ररहित-प्रच्छादकसहित-सचेल जिनकल्प का भी आचरण असंभव मान लिया गया, जिससे केवल कटिवस्त्र-प्रच्छादकसहित-सचेल स्थविरकल्प को धारण करनेवाले साधु ही शेष रह गये। (अध्याय २/प्र. ३/शी. ३.५)।

इस प्रकार डॉ० सागरमल जी ने ईसा की पाँचवी शताब्दी के प्रथम चरण में जिस उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ के विभाजन से श्वेताम्बर और यापनीय संघों की उत्पत्ति बतलायी है, उसका अस्तित्व ही नहीं था। अतः डॉक्टर सा० का यह मत अप्रामाणिक है कि उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ के विभाजन से श्वेताम्बर और यापनीय संघों का उद्भव हुआ था। जम्बूस्वामी पर्यन्त दिगम्बर और श्वेताम्बर संघों की गुरु-शिष्यपरम्परा का अभिन्न होना और तत्पश्चात् भिन्न हो जाना इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि भगवान् महावीर-प्रणीत अचेल-निर्ग्रन्थसंघ के विभाजन से ही दिगम्बर-श्वेताम्बर संघ अस्तित्व में आये।

अध्याय ७—यापनीयसंघ का इतिहास

१. यापनीयसंघ का सर्वप्रथम उल्लेख पाँचवी शती ई० (४७०-४९० ई०) के कदम्बवंशी राजा मृगेशवर्मा के **हल्सी-ताम्रपत्रलेख** में हुआ है। तत्पश्चात् ८वीं शती ई० के श्वेताम्बराचार्य श्री हरिभद्रसूरि ने अपने **ललितविस्तरा** ग्रन्थ में **यापनीयतन्त्र** नामक यापनीयग्रन्थ का उल्लेख किया है। हरिषेण (९३१ ई०) के **बृहत्कथाकोश** में, देवसेनसूरि (९३३ ई०) के **दर्शनसार** में, इन्द्रनन्दी (११वीं शती ई०) के **नीतिसार** में **षड्दर्शनसमुच्चय** की **गुणरत्नसूरिकृत टीका** (१४वीं शती ई०) में, **दंसणपाहुड** पर **श्रुतसागरसूरि** (१५वीं शती ई०) द्वारा रचित व्याख्या में तथा रत्ननन्दी (१६वीं शती ई०) के **भद्रबाहुचरित** में यापनीयसंघ का वर्णन मिलता है। इस प्रकार ईसा की पाँचवी शताब्दी के उत्तरार्ध से पूर्व **यापनीयसंघ** का उल्लेख न तो किसी ग्रन्थ में उपलब्ध होता है, न किसी शिलालेख में। इससे अनुमान होता है कि उसका उदय ईसा की पाँचवीं सदी के प्रारम्भ में हुआ था। वह ईसा की १५वीं शती तक विद्यमान रहा, पश्चात् उसका लोप हो गया। इसका केन्द्र दक्षिण भारत था।

२. यापनीयसम्प्रदाय अचेल और सचेल दोनों लिंगों से मुक्ति मानता था, अतः यापनीय साधु दिगम्बरसाधुओं के समान नग्न भी होते थे और श्वेताम्बरमुनियों के समान सवस्त्र भी। नग्न साधु दिगम्बरमुनियों के समान मयूरपिच्छी भी रखते थे और पाणितल में भोजन करते थे। वे नग्न जिनप्रतिमाएँ भी प्रतिष्ठित कराते थे और उनकी पूजा करते थे। इसके अतिरिक्त उनकी समस्त मान्यताएँ श्वेताम्बरों के समान थीं। वे श्वेताम्बर-आगमों को ही मानते थे। अतः उनमें वर्णित सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति,

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

परतीर्थिकमुक्ति, केवलि-कवलाहार और महावीर का गर्भपरिवर्तन आदि बातों में विश्वास करते थे। यापनीयसाधु श्वेताम्बरसाधुओं के ही समान शिष्यों को 'धर्मलाभ' का आशीर्वाद देते थे। श्वेताम्बर-आगमों को प्रमाण मानने से उनके रचयिता आचार्य ही यापनीयों के पूर्वाचार्य थे। यापनीय **गोप्य** भी कहलाते थे। दिगम्बराचार्यों ने यापनीयों को पाँच **जैनाभासों** में परिगणित किया है। (अध्याय ७/प्र.१/शी.१)।

३. यापनीयों ने श्वेताम्बर-आगमों को ही अपना लिया था, इसलिए उन्हें मौलिक ग्रन्थों के निर्माण की आवश्यकता नहीं हुई। उन्होंने वही ग्रन्थ रचे हैं, जो दिगम्बरपरम्परा के स्त्रीमुक्तिनिषेध आदि सिद्धान्तों के खण्डन और अपने मत की पुष्टि के लिए आवश्यक थे। श्री हरिभद्रसूरि ने 'ललितविस्तरा' में एक **यापनीयतन्त्र** नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है, जो अनुपलब्ध है। वर्तमान में केवल यापनीय-आचार्य पाल्यकीर्ति शाकटायन के तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं-**स्त्रीनिर्वाणप्रकरण, केवलिभुक्तिप्रकरण** एवं **शाकटायन-व्याकरण**। उनका एक साहित्य-विषयक ग्रन्थ भी था।

४. दिगम्बर जैन विद्वान् पं० नाथूराम जी प्रेमी ने भगवती-आराधना, उसकी विजयोदया टीका, मूलाचार और तत्त्वार्थसूत्र, इन दिगम्बरजैन-ग्रन्थों को यापनीय-आचार्यों द्वारा रचित बतलाया है और श्वेताम्बर विद्वान् डॉ० सागरमल जी जैन ने तो दिगम्बराचार्यों द्वारा रचित कसायपाहुड, षट्खण्डागम, भगवती-आराधना आदि सोलह ग्रन्थों को यापनीयों के खाते में तथा तत्त्वार्थसूत्र एवं सन्मतिसूत्र को श्वेताम्बर-यापनीयों की कपोलकल्पित मातृपरम्परा (उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थपरम्परा) के खाते में डाल दिया है। इनमें से एक भी ग्रन्थ यापनीय-परम्परा अथवा श्वेताम्बर-यापनीयों की कपोलकल्पित मातृपरम्परा का नहीं हैं, यह उनमें वर्णित यापनीयमत-विरुद्ध अथवा श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा-विरुद्ध सिद्धान्तों से प्रमाणित है। (अध्याय ११-२५)।

५. हरिषेण के **बृहत्कथाकोश** और रत्ननन्दी के **भद्रबाहुचरित** में यापनीयसंघ की उत्पत्ति श्वेताम्बरसंघ से बतलायी गयी है, यह शतप्रतिशत सत्य है। इसकी पुष्टि श्वेताम्बरों और यापनीयों के सिद्धान्तों, आगमों एवं आचार्यपरम्परा की अभिन्नता से होती है। (अध्याय ७ /प्र.१/शी.५)।

६. मुनि कल्याणविजय जी, डॉ० हीरालाल जैन एवं पं० दलसुख मालवाणिया ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि श्वेताम्बरसाधु बोटिक शिवभूति ने वीर-निर्वाण सं० ६०९ (ई० सन् ८२) में यापनीयसंघ की स्थापना की थी। डॉ० सागरमल जी ने बोटिक शिवभूति द्वारा यापनीयसंघ की स्थापना ईसा की पाँचवीं सदी के प्रारंभ में सिद्ध करने की चेष्टा की है। किन्तु यह सर्वथा मिथ्या है। आवश्यक-मूलभाष्य, विशेषावश्यकभाष्य, आवश्यकनिर्युक्ति, प्रवचनपरीक्षा आदि श्वेताम्बरग्रन्थों में बोटिक

शिवभूति को दिगम्बरजैन-सम्प्रदाय का संस्थापक बतलाया गया है। किन्तु यथार्थ यह है कि शिवभूति न तो यापनीयमत का प्रवर्तक था, न ही दिगम्बरजैनमत का संस्थापक, उसने तो श्वेताम्बरमत छोड़कर जिनेन्द्रप्रणीत परम्परागत दिगम्बरमत का वरण किया था। यह उसके ही वचनों से सिद्ध है। वह अपने गुरु के सचेल-स्थविरकल्प-समर्थक तर्कों का विरोध करते हुए कहता है—"परलोकार्थी (मोक्षार्थी) को अचेल जिनकल्प ही ग्रहण करना चाहिए, कषाय, भय, मूर्च्छादि दोषों के कारणभूत सपरिग्रह सचेल स्थविरकल्प से क्या लाभ? यह अनर्थकर है, इसीलिए श्रुत में परिग्रहरहित (अचेल) जिनकल्प का उपदेश दिया गया है। जिनेन्द्र भी अचेल होते हैं। अतः अचेलता ही सुन्दर (हितकर) है।" इन्हीं श्रुतवचनों एवं जिनेन्द्रदेव के अचेलत्व का अनुसरण करते हुए शिवभूति ने नाग्न्यलिंग ग्रहण किया था। इससे सिद्ध है कि उसने किसी नये मत का प्रवर्तन नहीं किया था, अपितु जिनप्रणीत परम्परागत दिगम्बरमत को ही अंगीकार किया था। (अध्याय २ / प्र.२ / शी.५)।

७. श्वेताम्बराचार्य हस्तीमल जी की मान्यता है कि यापनीयसंघ की उत्पत्ति दिगम्बरसंघ से हुई थी, क्योंकि अभिलेखों में दोनों के गण-गच्छ समान मिलते हैं, जैसे-मूलसंघ, श्रीमूल-मूलसंघ, कनकोत्पलसंभूतसंघ, पुन्नागवृक्षमूलसंघ, कुन्दकुन्दान्वय, कण्डूरगण, क्राणूरगण आदि। (अध्याय ७ / प्र.१ / शी. ५)।

किन्तु, इनमें से केवल 'पुन्नागवृक्षमूलगण', जिसे आचार्य हस्तीमल जी ने 'गण' न कहकर 'संघ' कहा है, दिगम्बरपरम्परा और यापनीयपरम्परा में समान था, शेष नहीं। शेष में से श्रीमूल-मूलसंघ, कनकोत्पलसंभूतसंघ और कण्डूरगण केवल यापनीयपरम्परा में थे और मूलसंघ, कुन्दकुन्दान्वय एवं क्राणूरगण केवल दिगम्बर-परम्परा में। (अध्याय ७ / प्र.३ / शी. ३, ४)। अतः केवल एक 'पुन्नागवृक्षमूलगण' नाम की समानता इस निर्णय का युक्तियुक्त हेतु नहीं है कि यापनीयसंघ की उत्पत्ति दिगम्बरसंघ से हुई थी। समानता को देखा जाय, तो यापनीयसंघ की सैद्धान्तिक और सांस्कृतिक समानता दिगम्बरसंघ की अपेक्षा श्वेताम्बरसंघ से अधिक थी। जैसे सिद्धान्त और संस्कृति की अधिक समानता के कारण श्वेताम्बरजैन सम्प्रदाय की उत्पत्ति, निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) सम्प्रदाय से ही सिद्ध होती है, बौद्धसम्प्रदाय से नहीं, जैसे उक्त समानता के कारण स्थानकवासी श्वेताम्बर-सम्प्रदाय का उद्भव मूर्तिपूजक श्वेताम्बरसम्प्रदाय से ही सिद्ध होता है, दिगम्बरजैन-सम्प्रदाय से नहीं, वैसे ही सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति, परतीर्थिकमुक्ति, केवलिभुक्ति आदि सिद्धान्तों एवं 'धर्मलाभ' कहकर आशीर्वाद देने आदि-रूप संस्कृति की अत्यन्त समानता के कारण यापनीयसम्प्रदाय का जन्म श्वेताम्बरसम्प्रदाय से ही सिद्ध होता है, दिगम्बरसम्प्रदाय से नहीं। (अध्याय ७ / प्र.१ / शी. ५)। यापनीयसम्प्रदाय ने 'यापनीय' नाम भी श्वेताम्बर-आगमों से ग्रहण किया था। (अध्याय ७ / प्र.१ / शी. ७)।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

८. यापनीयसंघ एक ऐसा संघ था, जिसके साधु मानते थे कि मुक्ति के लिए नग्न रहना आवश्यक नहीं है, फिर भी नग्न रहते थे। इसका क्या प्रयोजन था? कुछ विद्वानों की धारणा है कि इसका प्रयोजन दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों को एक-दूसरे के आचार-विचार अपनाकर एक होने की प्रेरणा देना था। किन्तु , यापनीय-सम्प्रदाय का प्रणेता इतना मूढ़ नहीं रहा होगा कि वह दिगम्बरों और श्वेताम्बरों को इस हद तक मूर्ख मान ले कि वे अपनी आस्था-विरुद्ध मान्यताओं को स्वीकार कर एक हो जायेंगे। अतः विद्वानों की उपर्युक्त धारणा अयुक्तियुक्त है। वस्तुतः नग्न वेशधारण करने का प्रयोजन था अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए लोकमान्यता और राजमान्यता की प्राप्ति, क्योंकि दक्षिण में यही वेश राजमान्य और लोकमान्य था। (अध्याय ७/प्र.१/शी.६)।

९. ईसापूर्व द्वितीय शती के सम्राट् खारवेल के हाथी गुम्फाभिलेख में **यापञवकेहि** (यापज्ञापकेभ्यः) पद का प्रयोग हुआ है। प्रसिद्ध इतिहासकार श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने पहले उसका अर्थ '**यापनीय-आचार्य के लिए**' किया था, जिससे द्वितीय शती ई० पू० में यापनीयसंघ के अस्तित्व का प्रसंग आता था। किन्तु श्वेताम्बरमुनि श्री पुण्यविजय जी ने उसका अर्थ '**धर्म का निर्वाह करनेवालों के लिए**' बतलाया, जिसे माननीय जायसवाल जी ने स्वीकार कर लिया। किन्तु वह अर्थ भी समीचीन नहीं है। वस्तुतः उक्त पद का समीचीन अर्थ '**धर्मोपदेशकों के लिए**' है। (अध्याय ७/प्र. २/शी. २)।

१०. **यापञवकेहि** इस पद को 'यापज्ञापकेभ्यः' (धर्मनिर्वाहकों के लिए) इस प्रकार चतुर्थ्यन्त मानकर तथा **चिनवतानि वाससितानि** शब्दों को रेशमी और श्वेत वस्त्र का वाचक मानकर मुनि श्री पुण्यविजय जी ने यह अर्थ ग्रहण किया है कि सम्राट् खारवेल ने श्वेताम्बरसाधुओं को वस्त्रदान किया था, अतः वह श्वेताम्बर था। किन्तु 'यापञवकेहि' पद चतुर्थ्यन्त नहीं, अपितु तृतीयान्त है, इसलिए उससे उपर्युक्त अर्थ प्रतिपादित नहीं होता। अतः 'यापज्ञापक' शब्द से श्वेताम्बरसाधु अर्थ नहीं लिया जा सकता, फलस्वरूप खारवेल को श्वेताम्बर नहीं माना जा सकता। (अध्याय७/प्र.२/शी.३,४,५)।

११. **हिमवन्त थेरावली** नाम की एक झूठी थेरावली रची गयी, जिसमें सम्राट् खारवेल को चेदिवंश की जगह **चेटवंश** में उत्पन्न बतलाकर श्वेताम्बर सिद्ध करने का प्रयास हुआ। इसके समर्थन और विरोध में क्रमशः मुनि कल्याणविजय जी और बाबू कामताप्रसाद जी के तीन लेख 'अनेकान्त' में प्रकाशित हुए। 'हिमवन्त-थेरावली' की खोजबीन की गयी और यह पाया गया कि उसमें खारवेलवाला अंश झूठा है। इसकी सूचना मुनि जिनविजय जी ने 'अनेकान्त' के सम्पादक पं० जुगलकिशोर जी

मुख्तार को पटना से दिनांक १२/४/१९३० ई० को दी थी। (अध्याय ७/प्र. २/शी. ५, ६)।

१२. मुनि कल्याणविजय जी ने दिगम्बरजैन-परम्परा को अर्वाचीन सिद्ध करने के लिए यह कथा गढ़ी है कि उसकी स्थापना आचार्य कुन्दकुन्द ने विक्रम की छठी शताब्दी में दक्षिण भारत में की थी। किन्तु ३७० ई० एवं ४२५ ई० की नोणमंगल-ताम्रपट्टिकाओं (क्र ९० एवं ९४) में दिगम्बर-जैनसंघ (निर्ग्रन्थसंघ) के दूसरे नाम **मूलसंघ** का उल्लेख होने से उनकी यह कथा मनगढ़न्त सिद्ध हो जाती है। इसलिए उन्होंने इसकी मनगढ़न्तता को छिपाने के लिए एक दूसरी कथा गढ़ी है कि 'मूलसंघ' दिगम्बरसंघ का नाम नहीं था, अपितु बोटिक शिवभूति ने अपने द्वारा प्रवर्तित सचेलाचेल-सम्प्रदाय का उत्तरभारत में 'मूलसंघ' नाम रखा था, जो दक्षिण में जाने पर 'यापनीय' नाम से प्रसिद्ध हुआ।

यह कथा मनगढ़न्त इसलिए है कि बोटिक शिवभूति ने सचेलाचेल-सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया ही नहीं था, जिसका दक्षिण में जाने पर 'यापनीयसंघ' नाम पड़ता। 'विशेषावश्यकभाष्य', 'प्रवचनपरीक्षा' आदि ग्रन्थों में शिवभूति को सर्वथा अचेल बोटिकसम्प्रदाय का प्रवर्तक कहा गया है और बोटिकसम्प्रदाय को दिगम्बरजैन-सम्प्रदाय कहा है। अतः यदि शिवभूति ने अपने सम्प्रदाय को उत्तरभारत में मूलसंघ नाम दिया था, तो दिगम्बरजैन संघ का ही 'मूलसंघ' नाम था, यह सिद्ध होता है। वस्तुतः उसने दिगम्बरजैन-सम्प्रदाय का भी प्रवर्तन नहीं किया था, अपितु उसे अंगीकार किया था, यह पूर्व में सिद्ध किया जा चुका है।

दूसरे, मूलसंघ उसे कहा जाता है, जिससे कोई नया संघ उत्पन्न हो। यापनीयसंघ से कोई नया संघ उत्पन्न नहीं हुआ, इसलिए उसका मूलसंघ नाम युक्तिसंगत नहीं है।

शिलालेखों में '**श्रीमूलसंघदपो (पु) न्नागवृक्षमूलगण**' तथा '**श्रीमूलसंघान्वयक्राणूरगण**' इन उल्लेखों को देखकर डॉ० सागरमल जी ने माना है कि ये गण यापनीयों के थे तथा मूलसंघ के साथ उनका उल्लेख हुआ है, इससे सिद्ध है कि 'मूलसंघ' यापनीयसंघ का ही नाम था, किन्तु यह डॉक्टर सा० की एकान्त-दृष्टि का परिणाम है। वस्तुतः 'पुन्नागवृक्षमूलगण' यापनीयसंघ और मूलसंघ दोनों में था। इसी प्रकार नन्दिसंघ भी दोनों में था। इनमें भेद प्रदर्शित करने के लिए यापनीयसंघ के पुन्नागवृक्ष-मूलगण एवं नन्दिसंघ के साथ 'यापनीय' शब्द का प्रयोग किया गया है तथा मूलसंघ के पुन्नागवृक्षमूलगण एवं नन्दिसंघ के साथ 'मूलसंघ' का। तथा यापनीयसंघ में 'क्राणूरगण' नहीं था, अपितु 'कण्डूरगण' था। क्राणूरगण केवल दिगम्बरसंघ में था।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

अतः उक्त गणों के साथ 'मूलसंघ' का उल्लेख होने से यह सिद्ध नहीं होता कि वह यापनीयसंघ का नाम था। (अध्याय ७/प्र.३/शी.३,४)। निर्ग्रन्थसंघ (दिगम्बरसंघ) ही मूलसंघ था। इसका एक स्पष्ट प्रमाण 'षड्दर्शनसमुच्चय' की गुणरत्नकृत टीका में मिलता है—"**दिगम्बराः पुनर्नाग्न्यलिङ्गाः पाणिपात्राश्च। ते चतुर्धा काष्ठासङ्घ-मूलसङ्घ-माथुरसङ्घगोप्यसङ्घभेदात्।**" इसमें दिगम्बरों के संघ को ही 'मूलसंघ' कहा गया है। (अध्याय ७/प्र.३/शी.५,६)।

१३. अपने जन्मकाल (पाँचवीं शती ई०) से एक हजार वर्ष (१५०० ई०) के भीतर ही यापनीयसंघ का लोप हो गया। इसके कारण थे—सैद्धान्तिक असंगतता और साधुओं की गृहस्थवत् लौकिक प्रवृत्तियाँ। अचेल और सचेल दोनों लिगों से मुक्ति का यापनीय-सिद्धान्त लोगों के गले नहीं उतरा। जब वस्त्रधारण करते हुए भी मुक्ति हो सकती है, तब नग्न होने की क्या आवश्यकता? लोगों के इस प्रश्न का समाधान न हो सकने से उनका यापनीयसंघ से मोहभंग हो गया। यही उसके विलोप का मुख्य कारण था। दिगम्बरसंघ केवल अचेललिंग से मुक्ति मानता है और श्वेताम्बरसंघ केवल सचेललिंग से, अतः उनमें उक्त असंगतता न होने से वे लोप से बच गये।

द्वितीय खण्ड

कुन्दकुन्द का समय

षट्खण्डागम एवं कसायपाहुड की कर्तृपरम्परा

अध्याय ८—कुन्दकुन्द के प्रथमतः भट्टारक होने की कथा मनगढ़न्त

कुन्दकुन्द ने स्वयं को अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु का परम्परा-शिष्य तो कहा है, किन्तु अपने साक्षाद् गुरु का किसी भी ग्रन्थ में उल्लेख नहीं किया। मुनि कल्याण-विजय जी ने इसका कारण यह बतलाया है कि 'कुन्दकुन्द आरम्भ में बोटिक शिवभूति द्वारा स्थापित यापनीयसंघ में दीक्षित हुए थे। वे शिवभूति के साक्षात् शिष्य नहीं थे, अपितु परम्पराशिष्य थे। किन्तु आगे चलकर उन्हें उस संघ की चैत्यवास, भूमिग्रामादिदान-ग्रहण एवं आपवादिक-सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति आदि की मान्यताएँ अच्छी नहीं लगीं। इसलिए वे उससे अलग हो गये और यतः उनके गुरु इन धर्मविरुद्ध प्रवृत्तियों के समर्थक थे, अतः उन्होंने उन्हें अपना गुरु मानना छोड़ दिया। इसी कारण उन्होंने अपने ग्रन्थों में उनके नाम का उल्लेख नहीं किया।' मुनि जी का यह मत सर्वथा कपोलकल्पित है, यह निम्नलिखित तथ्यों से सिद्ध होता है—

१. प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय (प्र.२ / शी. १-६) में सिद्ध किया गया है कि बोटिक शिवभूति यापनीयसंघ का संस्थापक था ही नहीं, उसने तो दिगम्बरमत का वरण किया था। अतः आचार्य कुन्दकुन्द के उसके साक्षात् या परम्परा-शिष्य होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

२. कुन्दकुन्द आंरभ में यापनीय थे, इसका उल्लेख न तो कुन्दकुन्द ने स्वयं अपने किसी ग्रन्थ में किया है, न किसी अन्य ग्रन्थ या शिलालेख में मिलता है। अतः सिद्ध है कि यह मुनि श्री कल्याणविजय जी द्वारा की गयी कपोलकल्पना है।

३. प्रस्तुत ग्रन्थ के दशम अध्याय में इस बात की सप्रमाण सिद्धि की गयी है कि आचार्य कुन्दकुन्द ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी (ईसापूर्व प्रथम शताब्दी तथा ईसोत्तर प्रथम शताब्दी) में हुए थे तथा सप्तम अध्याय में यह सिद्ध किया गया है कि यापनीयमत की उत्पत्ति ईसा की पाँचवीं शताब्दी के प्रारंभ में हुयी थी। इससे भी सिद्ध होता है कि कुन्दकुन्द को यापनीयसंघ में दीक्षित मानना कपोलकल्पना मात्र है।

४. कुन्दकुन्द ने **बोधपाहुड** (गाथा ६१-६२) में अपने को श्रुतकेवली भद्रबाहु का परम्पराशिष्य बतलाया है, न कि बोटिक शिवभूति का। उनके इस कथन में अविश्वास और मुनि कल्याणविजय जी के वचन में विश्वास करने का कोई आधार नहीं है।

श्वेताम्बराचार्य श्री हस्तीमल जी ने मुनि श्री कल्याणविजय जी की कल्पना से मिलती-जुलती दूसरी कल्पना की है। उनका कथन है कि कुन्दकुन्द सर्वप्रथम वीरनिर्वाण सं० १००० (विक्रम सं० ५३० = ई० सन् ४७३) में अपने दादा गुरु माघनन्दी द्वारा स्थापित भट्टारकपरम्परा में भट्टारकपद पर दीक्षित हुए थे। माघनन्दी के शिष्य भट्टारक जिनचन्द्र कुन्दकुन्द के गुरु थे। (देखिये, अध्याय १० / प्र. ३ / शी.१ तथा अध्याय ८/ प्र.२ / शी.१)। आचार्य जी का तर्क है कि "**दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी** (Vol. XX) में प्रकाशित नन्दिसंघ की पट्टावली इतिहास के विद्वानों द्वारा कालक्रमानुसार तैयार की गई भट्टारकपरम्परा के प्रमुख संघ **नन्दिसंघ** की पट्टावली है। यह वस्तुतः भट्टारकपरम्परा की मूल पट्टावली है। इसमें सभी आचार्यों के लिए सात बार **पट्टाधीश** विशेषण और दो बार **भट्टारक** विशेषण का प्रयोग किया गया है। इस पट्टावली में आचार्य कुन्दकुन्द को भट्टारक-परम्परा का पाँचवाँ पट्टाधीश बतलाया गया है।" (देखिये, अध्याय ८ / प्र.२/ शी. १)।

आचार्य श्री हस्तीमल जी ने 'जैनधर्म का मौलिक इतिहास' (भाग ३/ पृ.१२६-१४३) में भट्टारकपरम्परा के विकास के तीन रूप बतलाये हैं। यथा—

१. वीर नि० सं० ६०९ (ई० सन् ८२) के लगभग हुए संघभेद के थोड़े समय पश्चात् ही श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय, तीनों संघों के कुछ श्रमणों ने चैत्यों

में रहना प्रारंभ कर दिया था। कुछ समय बाद वे भूमिदान और द्रव्यदान लेने लगे, तब भट्टारक-परम्परा शुरू हो गयी। भट्टारकपरम्परा का यह प्रथम स्वरूप था। इसका अस्तित्व वीर नि० सं० ६४० से ८८० (ई० सन् ११३ से ३५३) तक रहा।

२. वीरनिर्वाण की नौवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में भट्टारकों के पीठ स्थापित होने लगे और उन्होंने राजाओं को प्रभावित कर राज्याश्रय प्राप्त करना भी शुरू कर दिया। मंत्र-तंत्र, ज्योतिष और औषधि आदि के प्रयोग से जनमानस को भी अपने अधीन किया जाने लगा। यह भट्टारक-परम्परा का द्वितीय स्वरूप था, जो ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी तक विद्यमान रहा।

३. बारहवीं शती ई० में दिगम्बरसम्प्रदाय के भट्टारक न केवल वस्त्र धारण करने लगे, अपितु प्रचुर परिग्रह एवं मठों के स्वामी बनकर राजसी ठाठबाट से जीवन व्यतीत करने लगे, साथ ही श्रावकों के धार्मिक शासक बने गये। यह भट्टारकपरम्परा का तीसरा और अन्तिम रूप था।

आचार्य हस्तीमल जी ने भट्टारकपरम्परा के इन तीन रूपों में से आचार्य कुन्दकुन्द को दूसरे रूप के अन्तर्गत पाँचवाँ पट्टाधीश माना है। उनका कथन है कि जब कुन्दकुन्द को धर्म के तीर्थंकरप्रणीत वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हुआ, तब उन्हें अपने तथा अपने गुरु के भट्टारकीय भ्रष्टाचरण के प्रति अश्रद्धा हो गयी और वे भट्टारकसम्प्रदाय से अलग हो गये। अलग होकर उन्होंने तीर्थंकरप्रणीत वास्तविकधर्म का पुनरुत्थान किया। इस तरह भट्टारकीय भ्रष्टाचरण से दूषित अपने गुरु जिनचन्द्र के प्रति अश्रद्धा हो जाने से ही कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों में उनके नाम का स्मरण नहीं किया। (देखिये, अध्याय ८/प्र.२/शी.१)।

निरसन—आचार्य श्री हस्तीमल जी की ये सारी मान्यताएँ असमीचीन हैं। इसका स्पष्टीकरण नीचे किया जा रहा है—

१. आचार्य जी ने भट्टारकपरम्परा के विकास के जो तीन रूप बतलाये हैं, वे अप्रामाणिक हैं। कुछ मुनियों में चैत्यवास, भूमिग्रामादिदान-ग्रहण, मंत्रतंत्र-ज्योतिष-औषधि के प्रयोग द्वारा ख्यातिलाभ-जीविकोपार्जन आदि की प्रवृत्तियाँ सदा रही हैं। कुन्दकुन्द ने इन्हें अनादिकालीन कहा है (भावपाहुड/गा.१४) और इनका आश्रय लेनेवाले मुनियों को आगम में पासत्थ (पार्श्वस्थ), कुसील (कुशील), संसत्त (संसक्त), ओसण्ण (अवसन्न) और जहाछंद या मिगचरित्त (यथाछन्द या मृगचरित्र) मुनि के नाम से अभिहित किया गया है। (देखिये, अध्याय ८/प्र.४/शी.३)। इसलिए जैनपरम्परा के मुनियों में इन प्रवृत्तियों का विकास वीरनिर्वाण के ६०९ वर्ष बाद मानना प्रामाणिक नहीं है। अनादिकालीन होने से इन्हें विकसित नहीं माना जा सकता। और यदि विकसित

भी माना जाय, तो इन्हें भट्टारकपरम्परा के विकास का प्रथम या द्वितीय रूप नहीं कहा जा सकता, अपितु पासत्थादि-मुनिचरित्र का ही विकास कहा जा सकता है, क्योंकि पिच्छी-कमण्डलु के साथ नाग्न्यलिंग 'मुनि' संज्ञा का ही हेतु है। उपर्युक्त प्रवृत्तियोंवाले मुनिलिंगधारियों का सम्प्रदाय भ्रष्टमुनि-सम्प्रदाय तो कहला सकता है, किन्तु भट्टारक-सम्प्रदाय नहीं, जिस प्रकार वह श्रावकसम्प्रदाय नहीं कहला सकता।

एक बात ध्यान में रखने की है कि भट्टारकसम्प्रदाय में भ्रष्टमुनि-प्रवृत्तियाँ नहीं होतीं, जब कि पासत्थादि-मुनियों में होती हैं। भट्टारक वस्त्रधारी होने से गृहस्थों की श्रेणी में आते हैं, अतः मठ आदि में नियतवास, मन्दिर के प्रबन्ध के लिए भूमिग्रामादिदान का ग्रहण, उनका उपयोग एवं प्रबन्ध तथा मन्दिर-तीर्थ आदि की व्यवस्था इत्यादि प्रवृत्तियाँ भट्टारक पद के विरुद्ध नहीं हैं, जब कि मुनिपद के विरुद्ध हैं। अतः इन गृहस्थ-प्रवृत्तियों को अपनाने के कारण मुनि तो आचारभ्रष्ट हो जाते हैं, किन्तु भट्टारक नहीं। इसलिए पासत्थादि मुनियों के सम्प्रदाय को भट्टारकसम्प्रदाय नहीं कहा जा सकता। जो भी दिगम्बरमुनि चैत्यवास, भूमिग्रामादिदान-ग्रहण जैसी गृहस्थ-प्रवृत्तियाँ अपनाता है, वह पासत्थादि-मुनि ही कहला सकता है, भट्टारक नहीं। भट्टारक पासत्थादिमुनियों जैसा भ्रष्ट नहीं होता, क्योंकि जिनलिंगधारी न होने से उसकी गृहस्थ-प्रवृत्तियाँ मुनिधर्म-विरुद्ध नहीं होतीं। इसलिए पासत्थादि-मुनियों का सम्प्रदाय भट्टारकसम्प्रदाय था, यह कहना सर्वथा अयुक्तिसंगत है।

२. दिगम्बरजैन-परम्परा में सम्प्रदाय-विशेषार्थक **भट्टारक** नाम उन पुरुषों के लिए प्रयुक्त हुआ है, जो दिगम्बरमुनिलिंग धारण न करते हुए भी पिच्छी-कमण्डलु-सहित एक नया अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंग धारण कर श्रावकों के धर्मगुरु बनने लगे थे। इसलिए पासत्थादिमुनि-चरित्र और भट्टारकचरित्र में महान् अन्तर है। पासत्थादिमुनि 'मुनि' होते हुए भी गृहस्थकर्म अपनाते हैं और भट्टारक गृहस्थ होते हुए भी (यद्यपि वे विवाहित नहीं होते) मुनिकर्म (धर्मगुरु का कर्म) करने लगते हैं। इसलिए मंदिर-मठ में नियतवास, भूमिग्रामादिदान-ग्रहण, उनका प्रबन्ध और उपयोग, मन्दिर-मठ आदि की व्यवस्था, ये गृहस्थकर्म भट्टारकचरित्र की विशेषताएँ नहीं हैं, अपितु गृहस्थ होते हुए भी और सिंहासन, पालकी, छत्र, चँवर आदि राजसी ठाठ-बाट का उपभोग करते हुए भी, पिच्छी-कमण्डलु-सहित एक अजिनोक्त-सवस्त्रसाधु-लिंग धारणकर नये प्रकार के जैनसाधु जैसी अपनी छवि दर्शाना तथा श्रावकों के धर्मगुरुपद पर आसीन होना भट्टारकचरित्र की विशेषताएँ हैं। **मुनि-एलक-क्षुल्लक न होते हुए भी, अर्थात् सवस्त्र गृहस्थावस्था में रहते हुए भी भट्टारकों का पिच्छी-कमण्डलु रखना तथा धर्मगुरु के पद पर आसीन होना, ये दोनों प्रवृत्तियाँ आगमविरुद्ध हैं।** इस प्रकार **पासत्थादि मुनिचरित्र में गृहस्थकर्म का प्रवेश आगमविरुद्ध है और भट्टारकचरित्र में मुनिकर्म पर अधिकार आगमविरुद्ध**

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

है। फलस्वरूप ये दोनों चरित्र परस्पर विपरीत हैं। इससे सिद्ध हैं कि आचार्य श्री हस्तीमल जी ने वीरनिर्वाण के ६०९ वर्ष बाद तथा वीरनिर्वाण की नौवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में कतिपय दिगम्बरमुनियों में दिखायी देनेवाली चैत्यवासादि जिन प्रवृत्तियों को भट्टारकीय प्रवृत्तियाँ कहा है, वे भट्टारकीय प्रवृत्तियाँ नहीं थीं, अपितु पासत्थादिमुनि-प्रवृत्तियाँ थीं।

भट्टारकीय प्रवृत्तियों का विकास ईसा की १२वीं शती में हुआ था, जब कुछ पासत्थादि-मुनियों ने मुनिलिंग त्यागकर पिच्छी-कमण्डलु के साथ एक ऐसा सवस्त्रलिंग धारण कर लिया था, जो मुनि, एलक, क्षुल्लक एवं सामान्य श्रावकों के लिंग से भिन्न था और जिससे वे दिगम्बरपरम्परा में एक नये प्रकार के जैनसाधु-सदृश दिखते थे तथा जिसकी सहायता से वे श्रावकों के नये प्रकार के धर्मगुरु, धर्माधिकारी अथवा धर्मशासक बन गये थे। (देखिये, अध्याय ८/ प्र.४ / शी.३)।

यतः भट्टारकीय प्रवृत्तियों का विकास सर्वप्रथम ईसा की १२वीं शताब्दी में हुआ था और प्रस्तुत ग्रन्थ के दशम अध्याय में सिद्ध किया गया है कि आचार्य कुन्दकुन्द ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी (ईसापूर्व प्रथम शताब्दी एवं ईसोत्तर प्रथम शताब्दी) में हुए थे, अतः सिद्ध है कि आचार्य माघनन्दी का भट्टारकसम्प्रदाय का संस्थापक होना तथा कुन्दकुन्द के गुरु जिनचन्द्र एवं कुन्दकुन्द का भट्टारकसम्प्रदाय में दीक्षित होना उसी प्रकार असंभव है, जिस प्रकार बन्ध्या स्त्री के पुत्र उत्पन्न होना।

३. नन्दी आदि संघ मूलतः मुनियों के संघ थे। आगे चलकर इन संघों के जो मुनि भट्टारक बने, वे भी अपना सम्बन्ध इसी संघ से जोड़ते रहे। इसलिए 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' (Vol. XX) में प्रकाशित नन्दिसंघ की पट्टावलि में मुनियों और भट्टारकों, दोनों के नाम वर्णित हैं। प्रथम शुभचन्द्रकृत नन्दिसंघ की गुर्वावलि (१४वीं शती ई०) में भद्रबाहु-द्वितीय, गुप्तिगुप्त (अर्हद्बलि), माघनन्दी, जिनचन्द्र, कुन्दकुन्द, उमास्वाति आदि के लिए **महामुनि, मुनिचक्रवर्ती, सत्संयमी, जातरूपधर** आदि विशेषणों के प्रयोग से स्पष्ट कर दिया गया है कि ये आचार्य २८ मूलगुणों का निरतिचार पालन करनेवाले मुनि थे, अजिनोक्त-सवस्त्र-साधुलिंगी भट्टारक नहीं। अतः आचार्य हस्तीमल जी का 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' (Vol. XX) में प्रकाशित नन्दिसंघ की सम्पूर्ण पट्टावली को भट्टारक-पट्टावली मानकर माघनन्दी, जिनचन्द्र, कुन्दकुन्द आदि को भट्टारक मान लेना अप्रामाणिक है।

४. 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' (Vol. XX एवं Vol. XXI) में प्रकाशित नन्दिसंघ की पट्टावलियाँ जिन मूल हस्तलिखित प्रतियों पर आधारित हैं, उनमें न तो 'पट्टाधीश' शब्द का प्रयोग है, न 'भट्टारक' शब्द का। उनमें 'पट्ट' 'पट्टस्थ' और 'आचार्य' शब्दों

का प्रयोग है। 'पट्ट' शब्द का अर्थ है प्रमुख या प्रधान। अतः वह 'आचार्य' का पर्यायवाची है। उक्त पट्टावलियों के अँगरेजी अनुवाद में प्रो० ए० एफ० रूडाल्फ हार्नले ने 'पट्ट' एवं 'पट्टस्थ' शब्दों का अनुवाद Pontiff किया है, जिसका अर्थ 'धर्मगुरु' (आचार्य) होता है, पट्टाधीश नहीं। किन्तु 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा' (भाग ४/पृ.४४१-४४३) के लेखक डॉ० नेमिचन्द्र जी शास्त्री ने 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' (Vol. XX) में प्रकाशित पट्टावली के स्वकृत हिन्दी-अनुवाद में Pontiff का अनुवाद 'पट्टाधीश' कर दिया है। इसे आचार्य हस्तीमल जी ने पट्टावली का मूलपाठ मान लिया है, जो उनका भ्रम है। यदि उन्होंने मूलपाठ देखा होता, तो यह भ्रम न होता।

पट्टावली के मूलपाठ में किसी आचार्य को 'भट्टारक' शब्द से भी अभिहित नहीं किया गया है। आचार्य हस्तीमल जी को इस शब्द के प्रयोग का भी भ्रम हुआ है। इन भ्रमों के आधार पर उन्होंने यह मान लिया कि उक्त पट्टावली में आचार्यों के लिए सात बार 'पट्टाधीश' विशेषण और दो बार 'भट्टारक' विशेषण का प्रयोग हुआ है, अतः वह भट्टारकपरम्परा की पट्टावली है। यतः आचार्य श्री हस्तीमल जी की यह मान्यता भ्रमजन्य है, अतः सिद्ध है कि उक्त पट्टावली केवल भट्टारकपरम्परा की नहीं, अपितु मुनि-परम्परा और भट्टारकपरम्परा दोनों की है। फलस्वरूप आचार्य माघनन्दी, जिनचन्द्र और कुन्दकुन्द भट्टारक परम्परा के पट्टाधीश नहीं थे, अपितु मुनिपरम्परा के आचार्य थे।

चूँकि आचार्य कुन्दकुन्द के शुरू में भट्टारकपरम्परा में दीक्षित होने की मान्यता अप्रामाणिक है, अतः यह मान्यता भी अप्रामाणिक है कि उन्हें अपने भट्टारकगुरु जिनचन्द्र में उनके भट्टारकीय आचरण के कारण अश्रद्धा हो गयी थी, इसलिए उन्होंने अपने ग्रन्थों में उनके नाम का उल्लेख नहीं किया। नामोल्लेख न करने के कारण पर नवम अध्याय में प्रकाश डाला गया है।

अध्याय ९—गुरुनाम तथा कुन्दकुन्दनाम-अनुल्लेख का कारण

हम देखते हैं कि षट्खण्डागम के कर्त्ता पुष्पदन्त और भूतबलि, कसायपाहुड के कर्त्ता गुणधर, तत्त्वार्थसूत्रकार गृध्रपृच्छ, आचार्य समन्तभद्र, पूज्यपादस्वामी आदि अन्य दिगम्बराचार्यों ने भी अपने ग्रन्थों में स्वगुरुओं के नाम का स्मरण नहीं किया है। यहाँ तक कि अपने भी नाम की चर्चा नहीं की। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में, पतञ्जलि ने योगदर्शन में और वाल्मीकि ने रामायण में अपने गुरु के नाम का निर्देश नहीं किया। इससे स्पष्ट है कि प्राचीनकाल में प्रायः निःस्पृह ग्रन्थकारों के द्वारा अपने ग्रन्थों में स्वयं के तथा स्वगुरु के नाम का उल्लेख करने की परम्परा नहीं थी। इसका

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

कारण था ख्याति की आकांक्षा का अभाव। अतः आचार्य कुन्दकुन्द के द्वारा अपने गुरुनाम का उल्लेख न किये जाने का भी यही कारण है।

कुन्दकुन्द ने जो बोधपाहुड (गा. ६१-६२) में श्रुतकेवली भद्रबाहु को अपना गमकगुरु (परम्परागुरु) कहकर उनका जयकार किया है, उसका विशेष प्रयोजन है। वह है अपने ग्रन्थों में किये गये प्ररूपण की प्रामाणिकता ज्ञापित करना अर्थात् यह प्रकट करना कि वह स्वकल्पित नहीं है, अपितु श्रुतकेवली द्वारा वर्णित सर्वज्ञ के उपदेश पर आश्रित है, जैसा कि उनके निम्नलिखित वचन से स्पष्ट होता है-"**वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणियं।**" (समयसार/गा.१)।

इसी प्रकार अनेक दिगम्बर-ग्रन्थकारों ने अपने ग्रन्थों में कुन्दकुन्द के नाम का स्मरण नहीं किया है। विभिन्न विद्वानों ने इसके भी अलग-अलग कारण बतलाये हैं, जो असंगत हैं।

१. **आचार्य हस्तीमल जी** ने कहा है कि धवलाकार वीरसेन स्वामी और उनके शिष्य-प्रशिष्य जिनसेन, गुणभद्र, हरिवंशपुराणकार जिनसेन आदि भट्टारकसम्प्रदाय के थे तथा कुन्दकुन्द भट्टारक-सम्प्रदाय में दीक्षित होकर उससे अलग हो गये थे, इसलिए वीरसेन, जिनसेन, गुणभद्र आदि ने अपने ग्रन्थों में कुन्दकुन्द के नाम का उल्लेख नहीं किया। (देखिये, अध्याय ८/प्र.२/शीर्षक १/उपान्त्य अनुच्छेद)।

आचार्य हस्तीमल जी का यह कथन निम्नलिखित कारणों से समीचीन नहीं है—

क—वीरसेन स्वामी सेनसंघी थे और सेनसंघ की पट्टावली में उन्हें किसी भी स्थान के भट्टारकपीठ पर आसीन नहीं बतलाया गया है।

ख—वीरसेन स्वामी ८वीं शताब्दी ई० में हुए थे और १२वीं शताब्दी ई० के पूर्व भट्टारकसम्पद्राय का उदय नहीं हुआ था। अतः उनका भट्टारकसम्प्रदाय का भट्टारक होना असंभव है।

ग—आदिपुराणकार आचार्य जिनसेन ने 'पार्श्वाभ्युदय' (४/७१) में वीरसेन स्वामी, उनके शिष्य विनयसेन तथा स्वयं को **मुनि, गरीयान् मुनि** और **मुनीश्वर** विशेषणों से विशेषित किया है। तथा प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति के कर्त्ता जयसेन ने, जो सेनगण (संघ) के ही थे, अपने गुरु एक अन्य वीरसेन को **जातरूपधर** और **निर्ग्रन्थपदवीधारी** बतलाया है। (जयसेनप्रशस्ति/प्र.सा./पृ.३४५)। दर्शनसार के रचयिता देवसेन ने जिनसेन के शिष्य गुणभद्र के लिए **महातपस्वी, पक्षोपवासी, भावलिंगी मुनि** इन शब्दों का प्रयोग किया है। (गा. ३०-३१)।

ये तीन हेतु इस बात के प्रमाण हैं कि वीरसेन, जिनसेन आदि आचार्य भट्टारकपीठ पर आसीन अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंगी भट्टारक नहीं थे। उनके साथ जुड़ी 'भट्टारक' उपाधि उन्हें उनकी विद्वता के अभिनन्दनार्थ प्रदान की गयी थी। (आदिपुराण/१/५५-५६)। अतः आचार्य हस्तीमल जी का यह कथन अप्रामाणिक है कि धवलाकार वीरसेन, आदिपुराणकार जिनसेन आदि भट्टारसम्प्रदाय के भट्टारक थे और आचार्य कुन्दकुन्द भट्टारकसम्प्रदाय से अलग हो गये थे, इसलिए उन्होंने अपने ग्रन्थों में कुन्दकुन्द के नाम का उल्लेख नहीं किया।

२. **प्रो० एम० ए० ढाकी** ने ग्रन्थकारों द्वारा कुन्दकुन्द के नाम का उल्लेख न किये जाने का एक अन्य ही कारण बतलाया है। उनका कथन है कि दसवीं शताब्दी ई० (आचार्य अमृतचन्द्र के समय) के पूर्व तक न तो किसी दिगम्बर आचार्य ने अपने ग्रन्थ में कुन्दकुन्द के नाम का उल्लेख किया है, न ही उनके ग्रन्थों पर टीका लिखी गयी। इससे सिद्ध होता है कि वे आचार्य अमृतचन्द्र के सौ-दो-सौ वर्ष पूर्व ही हुए थे। (देखिये, अध्याय ९/शी. २.२)।

अर्थात् प्रो० ढाकी के अनुसार कुन्दकुन्द वीरसेन स्वामी आदि से अर्वाचीन थे, इसलिए उन्होंने कुन्दकुन्द के नाम का उल्लेख नहीं किया। किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में हुए थे, इसका सप्रमाण प्रतिपादन दशम अध्याय में किया गया है। उन प्रमाणों पर दृष्टि डालने से सिद्ध हो जाता है कि कुन्दकुन्द के नाम-अनुल्लेख का ढाकी जी द्वारा बतलाया गया कारण सर्वथा मिथ्या है।

३. **पं० नाथूराम जी प्रेमी** का मत है कि कुन्दकुन्द एक खास आम्नाय या सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। उन्होंने जैनधर्म को वेदान्त के साँचे में ढाला था। जान पड़ता है कि जिनसेन आदि के समय तक उनका मत सर्वमान्य नहीं हुआ था, इसीलिए उनके प्रति उनमें कोई आदरभाव नहीं था। यही कारण है कि उन्होंने कुन्दकुन्द के नाम का उल्लेख नहीं किया। (देखिये, अध्याय ९/शी.२.३)।

इस पर आपत्ति करते हुए प्रो० ढाकी प्रश्न करते हैं कि यदि कुन्दकुन्द की नई विचारधारा से अन्य आचार्य सहमत नहीं थे, तो उन्होंने उसका प्रतिवाद क्यों नहीं किया और असहमत होते हुए भी उनके ग्रन्थों का अनुसरण क्यों किया जाता रहा? (देखिये, अध्याय ९/पा. टि.१२)।

प्रो० ढाकी का यह प्रश्न उचित है। प्रश्न में प्रकट किया गया तथ्य प्रेमी जी की इस धारणा को मिथ्या सिद्ध कर देता है कि जिनसेन आदि के समय तक आचार्य कुन्दकुन्द का मत सर्वमान्य नहीं हुआ था। कुन्दकुन्द सर्वमान्य आचार्य थे और उनके सिद्धान्तों का अनुसरण, उनकी गाथाओं का प्रमाणरूप में उद्धरण तथा उनके ग्रन्थों

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

का उल्लेख प्रथम शती ई० की भगवती-आराधना, मूलाचार आदि से लेकर ८वीं शती ई० के वीरसेन स्वामी की धवला और जयधवला टीकाओं तक में किया गया है। (देखिये, अध्याय १०/प्र.१/शी.२ से १०)। अतः यह मत अप्रामाणिक सिद्ध हो जाता है कि वीरसेन, जिनसेन आदि आचार्यों ने कुन्दकुन्द के नाम का उल्लेख इसलिए नहीं किया कि वे कुन्दकुन्द के मत से असहमत थे।

४. वीरसेन स्वामी आदि दिगम्बर-ग्रन्थकारों के द्वारा कुन्दकुन्द का नामोल्लेख न किये जाने का एक ही कारण है, वह है उनके नाम से अनभिज्ञ होना। जैसे तत्त्वार्थसूत्र में उसके कर्त्ता गृध्रपिच्छ के नाम का उल्लेख न होने से और यह प्रसिद्ध न होने से कि उसके कर्त्ता गृध्रपिच्छ हैं, टीकाकार पूज्यपाद स्वामी (५वीं शती ई०) और भट्ट अकलंकदेव (७वीं शती ई०) भी उनसे अपरिचित रहे, जिसके फलस्वरूप वे अपनी टीकाओं में तत्त्वार्थसूत्रकार के रूप में उनका नाम निर्दिष्ट नहीं कर सके, वैसे ही समयसारादि ग्रन्थों में कुन्दकुन्द के नाम का उल्लेख न होने से तथा यह प्रसिद्ध न होने से कि उन ग्रन्थों के रचयिता कुन्दकुन्द हैं, दसवीं शताब्दी ई० के टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र भी इस तथ्य से अनभिज्ञ रहे कि समयसारादि महान् ग्रन्थों के कर्त्ता वही आचार्य कुन्दकुन्द हैं, जिनसे कुन्दकुन्दान्वय नाम का विशाल अन्वय प्रसूत हुआ।

जिस प्रकार बहुत समय बाद ८वीं शती ई० में धवलाटीका के कर्त्ता वीरसेन स्वामी ने किसी प्राचीन लिखित स्रोत से यह ज्ञात होने पर कि तत्त्वार्थसूत्र के कर्त्ता आचार्य गृध्रपिच्छ हैं, धवलाटीका में इसका उल्लेख किया है, उसी प्रकार १२वीं शती ई० में किसी प्राचीन ग्रन्थादि से यह जानकारी होने पर कि समयसार आदि ग्रन्थों के निर्माता वही महान् कुन्दकुन्द हैं, जिनके नाम से कुन्दकुन्दान्वय प्रवाहित हुआ है, आचार्य जयसेन ने अपनी टीकाओं में उन ग्रन्थों के निर्माता के रूप में कुन्दकुन्द के नाम की चर्चा की है। (देखिये, अध्याय ९/शी. २.४)।

अध्याय १०—आचार्य कुन्दकुन्द का समय

१. आचार्य कुन्दकुन्द भगवान् महावीर के अनुयायी निर्ग्रन्थसंघ के आचार्य थे। यह निर्ग्रन्थसंघ ही वर्तमान में 'मूलसंघ' और 'दिगम्बरजैन-संघ' के नाम से प्रसिद्ध है। मूलसंघ में ही नन्दिसंघ का जन्म हुआ था। अतः पट्टावलियों और शिलालेखों में आचार्य कुन्दकुन्द को मूलसंघ का और मूलसंघ में उत्पन्न नन्दिसंघ का आचार्य कहा गया है। (अध्याय ८/प्र.३/शी. १ एवं ३)।

२. ई० सन् १८८५ में राजपूताना की यात्रा के समय श्री सेसिल बेण्डल (Mr. Cecil Bendall) को जयपुर के पण्डित श्री चिमनलाल जी ने मूलसंघ के नन्दी-

आम्नाय (संघ), सरस्वतीगच्छ, बलात्कारगण की दो पट्टावलियाँ प्रदान की थीं। श्री बेण्डल ने वे प्रो० (डॉ०) ए० एफ० रूडाल्फ हार्नले (A.F. Rudolf Hoernle) को सौंप दीं। प्रो० हार्नले ने उन्हें 'ए' और 'बी' नाम दिया तथा उनके अनुसार पट्टधरों की एक तालिका तैयार की और उसे The Indian Antiquary : A Journal of Oriental Researeh, Vol.XX, October 1891 में प्रकाशित किया। इस तालिका में आचार्य कुन्दकुन्द को पाँचवें क्रम पर दर्शाया गया है, यथा—१.भद्रबाहु द्वितीय, २.गुप्तिगुप्त, ३.माघनन्दी प्रथम, ४.जिनचन्द्र प्रथम, ५.कुन्दकुन्द। इसमें बतलाया गया है कि कुन्दकुन्द का जन्म ईसा से ५२ वर्ष पूर्व हुआ था और ईसा से ८ वर्ष पहले ४४ वर्ष की आयु में वे आचार्यपद पर प्रतिष्ठित हुए थे तथा ५१ वर्ष, १० मास एवं १० दिन तक आचार्य-पद पर आसीन रहे। उसके ५ दिन बाद स्वर्ग सिधार गये। इस प्रकार उनका जीवनकाल ९५ वर्ष, १० मास और १५ दिन था। (अध्याय ८/प्र.२/शी. १,२,३,४)।

इस विवरण के अनुसार कुन्दकुन्द का स्थितिकाल ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर ईसोत्तर प्रथम शताब्दी के पूर्वार्ध तक था, जिसे प्रस्तुत ग्रन्थ में **ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी** शब्द से अभिहित किया गया है। इस काल के प्रामाणिक होने की पुष्टि साहित्यिक और अभिलेखीय प्रमाणों से होती है। उदाहरणार्थ, ईसा की प्रथम शती के उत्तरार्ध में रचित **भगवती-आराधना** और **मूलाचार** में कुन्दकुन्द के ग्रन्थों से गाथाएँ ग्रहण की गयी हैं, प्रथम-द्वितीय शती ई० में रचित **तत्त्वार्थसूत्र** के अनेक सूत्र कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के आधार पर रचे गये हैं। द्वितीय शती ई० की **तिलोयपण्णत्ती** में कुन्दकुन्द-साहित्य की बहुत सी गाथाएँ समाविष्ट हैं। मर्करा के खजाने से प्राप्त शकसंवत् ३८८ (ई० सन् ४६६) के ताम्रपत्रलेख में कुन्दकुन्दान्वय और उसके छह गुरु-शिष्यों के नाम का उल्लेख है, जिससे कुन्दकुन्दान्वय बहुत पूर्ववर्ती सिद्ध होता है। (अध्याय १०/प्र.१/शी.११)।

३. श्वेताम्बराचार्य श्री हस्तीमल जी ने **दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी** में प्रकाशित पूर्वोक्त नन्दिसंघ की पट्टावली को भट्टारक-सम्प्रदाय की पट्टावली मानकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि आचार्य कुन्दकुन्द पहले भट्टारक-सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे, पश्चात् उससे विद्रोहकर अलग हो गये और विलुप्तप्राय दिगम्बरपरम्परा का पुनरुद्धार-पुनःसंस्थापन किया। (अध्याय ८/प्र.२/शी.१)। आचार्य जी ने माना है कि उक्त पट्टावली **इतिहास के विद्वानों द्वारा कालक्रमानुसार तैयार की गयी है एवं भट्टारक-परम्परा के उद्भव, प्रसार तथा उत्कर्षकाल के विषय में युक्तिसंगत एवं सर्वजनसमाधानकारी निर्णय पर पहुँचानेवाली है।** (अध्याय ८/प्र.२/शी.१)। किन्तु, विडम्बना यह है कि अपनी ही इस मान्यता के विरुद्ध आचार्य हस्तीमल जी पट्टावली में दर्शाये गये आचार्य कुन्दकुन्द के पट्टारोहणकाल को उचित नहीं मानते। उनके अनुसार

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

कुन्दकुन्द का पट्टारोहणकाल वीर-निर्वाण सं० १००० अर्थात् विक्रम संवत् ५३० (४७३ ई०) के लगभग है। ऐसा मानने पर वह इण्डियन ऐण्टिक्वेरी-पट्टावली में बतलाये गये पट्टारोहणकाल वि० सं० ४९ से ४८१ वर्ष आगे चला जाता है। इस स्थिति में कुन्दकुन्द के पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती सभी पट्टधरों का पट्टारोहणकाल ४८१ वर्ष आगे बढ़ जाता है, क्योंकि पट्टावली में दर्शायी गयी पट्टपरम्परा निर्धारित पट्टकालावधि के अन्तराल के साथ एक-दूसरे पट्टधर से जुड़ी हुई है। किन्तु ४८१ वर्ष आगे बढ़े हुए काल में उन पट्टधरों का अस्तित्व ही नहीं था और उनके पट्टपीठ भी समाप्त हो गये थे, यह उसी इण्डियन ऐण्टिक्वेरी-पट्टावली से सिद्ध है। तथा चित्तौड़पट्ट और नागौरपट्ट के ३९ पट्टधरों का पट्टारोहणकाल विक्रमसंवत् १५८६ (१५२९ ई०) से लेकर वि० सं० १९४० (१८८३ ई०) तक है। इन सबका पट्टारोहणकाल ४८१ वर्ष आगे बढ़ जाने पर इनका अभी (ई० सन् २००८ में) जन्म लेना ही घटित नहीं होता। (अध्याय ८ / प्र.३ / शी. ६)। इससे सभी पट्टधरों का अस्तित्व मिथ्या हो जाता है। उक्त (इण्डियन ऐण्टिक्वेरी की) पट्टावली में वर्णित पट्टधरों का अस्तित्व एवं पट्टारोहणकाल युक्तिसंगत एवं सत्य तभी सिद्ध हो सकता है, जब आचार्य कुन्दकुन्द का पट्टारोहणकाल वही माना जाय, जो उसमें वर्णित है। अन्य पट्टावलियों और शिलालेखों से इण्डियन ऐण्टिक्वेरी-पट्टावली में उल्लिखित पट्टधरों के अस्तित्व की पुष्टि होती है। (अध्याय ८ / प्र.३ / शी.६)। अतः आचार्य कुन्दकुन्द का पट्टारोहणकाल वही मानना अनिवार्य है, जो इण्डियन ऐण्टिक्वेरी-पट्टावली में निर्दिष्ट है।

४. इण्डियन ऐण्टिक्वेरी-पट्टावली की आधारभूत पट्टावलियों में मुनिसंघ के आचार्य को एवं भट्टारकपीठ के प्रमुख को 'पट्ट' एवं 'पट्टस्थ' (पट्टधर) शब्दों से अभिहित किया गया है। प्रो० हार्नले ने उनका अँगरेजी-अनुवाद Pontiff किया है, जिसका अर्थ है 'धर्मगुरु', किन्तु 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्यपरम्परा' के लेखक डॉ० नेमिचन्द्र जी शास्त्री, ज्योतिषाचार्य ने प्रो० हार्नले द्वारा अँगरेजी में प्रस्तुत पट्टावली के स्वकृत हिन्दी-अनुवाद में Pontiff के स्थान में **पट्टाधीश** शब्द का प्रयोग कर दिया है। इस 'पट्टाधीश' शब्द को आचार्य हस्तीमल जी ने पट्टावली के मूलपाठ में प्रयुक्त मानकर 'अधीश' शब्द के प्रयोग से यह मान लिया है कि वह भट्टारकसम्प्रदाय की पट्टावली है। उन्होंने यह तर्क भी दिया है कि उक्त पट्टावली में जिन पट्टधरों के नाम उल्लिखित हैं, उन्हें भट्टारक-परम्परा के बलात्कारगण ('भट्टारकसम्प्रदाय' / पृष्ठ ९३) की पट्टावली में और अनेक शिलालेखों में भट्टारक कहा गया है। (अध्याय ८ / प्र.२ / शी.१)।

आचार्य श्री हस्तीमल जी ने मूल में भूल की है। 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' में प्रकाशित तालिकाबद्ध पट्टावली की आधारभूत पट्टावलियों में न तो 'पट्टाधीश' शब्द

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

का प्रयोग है, न किसी पट्टधर को 'भट्टारक' शब्द से अभिहित किया गया है। इसलिए आचार्य हस्तीमल जी ने इन शब्दों का प्रयोग मानकर इण्डियन ऐण्टिक्वेरीवाली पट्टावली को जो भट्टारकपरम्परा की पट्टावली मान लिया है, वह उनका महान् भ्रम है। इस पट्टावली के प्रथम और द्वितीय क्रमांक पर उल्लिखित भद्रबाहु-द्वितीय और गुप्तिगुप्त को आचार्य हस्तीमल जी ने भट्टारक नहीं माना, तथा छठे क्रमांक पर निर्दिष्ट उमास्वामी को वे भट्टारक मान नहीं सकते, इससे सिद्ध है कि वह भट्टारक-सम्प्रदाय की पट्टावली नहीं है।

कुन्दकुन्दान्वय में सरस्वतीगच्छ और बलात्कारगण का विकास कुन्दकुन्द के अस्तित्वकाल (ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी) से लगभग नौ सौ वर्षों बाद तथा नन्दिसंघ का उदय ग्यारह सौ वर्षों के पश्चात् हुआ था, अतः वे नन्दिसंघ के नहीं थे। इसलिए नन्दिसंघ की पट्टावली को भट्टारकपट्टावली मान लेने पर भी कुन्दकुन्द भट्टारक सिद्ध नहीं होते। इसी प्रकार बलात्कारगण की पट्टावली में भी आचार्य कुन्दकुन्द का नाम निर्दिष्ट होने पर यह सिद्ध नहीं होता कि वे भट्टारकसम्प्रदाय के थे। (अध्याय ८ / प्र.३ / शी.१)।

'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' में छपी पट्टावली वस्तुतः कुन्दकुन्दान्वय की पट्टावली है। उसमें दिगम्बराचार्यों के भी नाम हैं और अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंगी भट्टारकों के भी। इसलिए भी उसे केवल नन्दिसंघ के भट्टारकसम्प्रदाय की पट्टावली मान लेना महाभ्रान्ति है। (अध्याय ८ / प्र.३ / शी.२)।

५. ग्रन्थों और शिलालेखों में 'भटार', 'भट्टार' और 'भट्टारक' शब्द तीन अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं—१. पूज्य, २. विद्वान् एवं ३. दिगम्बरपरम्परा में नवोदित अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंगी धर्मगुरु। दिगम्बरपरम्परा में इन नवोदित सवस्त्र मिथ्या धर्मगुरुओं का सम्प्रदाय ही भट्टारकसम्प्रदाय या भट्टारकपरम्परा के नाम से प्रसिद्ध हुआ है। (अध्याय ८/प्र.४/शी.१ एवं २)। विभिन्न ग्रन्थों एवं पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों में इन धर्माधिकारी भट्टारकों के असाधारणधर्म (लक्षण) इस प्रकार बतलाये गये हैं—१. भट्टारकदीक्षाविधि द्वारा भट्टारकपद पर प्रतिष्ठापन, २. अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंग-ग्रहण, ३. धर्मगुरु एवं पण्डिताचार्य के अधिकारों का आरोपण, ४. दक्षिणा-चढ़ावा-भेंट-शुल्क आदि से अर्थोपार्जन और ५. राजोचित वैभव एवं प्रभुता का स्वामित्व तथा ऐश्वर्यमय निरंकुश जीवनशैली। (अध्याय ८ / प्र.४ / शी.४)। ऐसे लक्षणोंवाले धर्मगुरु भट्टारक ही सम्प्रदायगत भट्टारक हैं। जो दिगम्बरमुनि मठ-मन्दिरों में नियतवास करते थे और राजाओं से भूमि-ग्राम आदि का दान ग्रहण कर मठ-मन्दिरों की व्यवस्था एवं जीवननिर्वाह करते थे, उनका सम्प्रदाय भट्टारकसम्प्रदाय नहीं कहलाता था (अध्याय ८ / प्र.४ / शी.५)। वे पासत्थ,

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

कुसील, संसत्त, ओसण्ण और जहाछंद नामों से अभिहित होते थे। आचार्य कुन्दकुन्द ने उनका अस्तित्व अनादिकाल से बतलाया है। (अध्याय ८/प्र.४/शी. ३)। अतः उन्हें भट्टारकपरम्परा की मनगढ़न्त प्रथम या द्वितीय विकसित अवस्थाओं से जोड़ना अप्रामाणिक है। ऐसा करने से तो भट्टारकपरम्परा अनादिकालीन अथवा भगवान् महावीर से पुरानी सिद्ध होगी।

उपर्युक्त लक्षणोंवाले अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंगी, धर्मगुरु, भट्टारकों के सम्प्रदाय का जन्म ईसा की १२ वीं शताब्दी में हुआ था। (अध्याय ८/प्र.४/शी. ३)। इससे पूर्ववर्ती मठ-मन्दिर-नियतवासी पासत्थादि नग्न मुनियों को जो बीसवीं शताब्दी ई० के ग्रन्थकारों ने 'भट्टारक' शब्द से अभिहित किया है, वह मठ-मन्दिर में नियतवास, भूमिग्रामादिदान-ग्रहण एवं उनके प्रबन्ध आदि के साधर्म्य की अपेक्षा से किया है। किन्तु यह युक्तिसंगत नहीं है। मठ-मन्दिर में नियतवास, भूमिग्रामादिदान-ग्रहण एवं उनके प्रबन्ध आदि की प्रवृत्तियाँ भट्टारकीय प्रवृत्तियाँ नहीं हैं। ये गृहस्थप्रवृत्तियाँ हैं और भट्टारक वस्त्रादि-परिग्रहधारी होने के कारण गृहस्थ होते हैं। अतः ये गृहस्थ प्रवृत्तियाँ भट्टारकों की 'गृहस्थ' संज्ञा का हेतु हैं, 'भट्टारक' संज्ञा का नहीं। भट्टारक गृहस्थावस्था में रहते हुए भी जो मुनिकर्म (धर्मगुरु का कार्य) करते हैं, वह उनकी 'भट्टारक' संज्ञा का हेतु है। पासत्थादि मुनि गृहस्थावस्था में नहीं होते, अतः उनका मुनिकर्म 'भट्टारक' संज्ञा का हेतु नहीं हो सकता। वह 'मुनि' संज्ञा का ही हेतु होता है। और मुनि-अवस्था में रहते हुए वे जो गृहस्थ कर्म करते हैं, वह 'पासत्थादि' संज्ञाओं का हेतु होता है, 'भट्टारक' संज्ञा का नहीं, क्योंकि 'भट्टारक' संज्ञा का हेतु तो गृहस्थावस्था में रहते हुए किया जानेवाला मुनिकर्म है। इसलिए जब पासत्थादि मुनियों की प्रवृत्तियाँ भट्टारकीय प्रवृत्तियों से बिलकुल उलटी हैं, तब पासत्थादि मुनियों को भट्टारक कहना युक्तिसंगत कैसे हो सकता है? कदापि नहीं हो सकता।

आचार्य कुन्दकुन्द ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में हुए थे और भट्टारकसम्प्रदाय का उदय ईसा की १२ वीं शताब्दी में हुआ था, अतः आचार्य हस्तीमल जी का यह कथन कि आचार्य कुन्दकुन्द प्रथमतः भट्टारकसम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे, सर्वथा अप्रामाणिक है।

यह सत्य है कि आचार्य कुन्दकुन्द के समय में जैनश्रमणाभासों का बाहुल्य था, किन्तु आरंभ में वे स्वयं श्रमणाभास (पासत्थ या कुसील मुनि) थे, इसे सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। उन्होंने दिगम्बरजैन मुनियों के परमार्थस्वरूप को ऊपर उठाने (मुनियों और श्रावकों की दृष्टि एवं आचरण में बैठाने) के लिए क्रान्तिकारी प्रयत्न किया था। किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उन्होंने श्रमणाभास-संघ में दीक्षा लेने के बाद अपने श्रमणाभासगुरु जिनचन्द्र एवं श्रमणाभासधर्म से विद्रोह

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

करके ऐसा किया था। मूलसंघ में दीक्षित होकर वे ऐसा क्यों नहीं कर सकते थे? इसके विरुद्ध कोई प्रमाण न होने से सिद्ध है कि उन्होंने ऐसा ही किया था। (अध्याय ८/प्र.४/शी.६)।

६. आचार्य हस्तीमल जी अपने इस मत पर भी अधिक दिन तक टिक नहीं सके कि आचार्य कुन्दकुन्द वि० सं० ५३० (ई० सन् ४७३) में भट्टारकपद पर प्रतिष्ठित हुए थे। आगे चलकर उन्हें एक अत्यन्त अप्रसिद्ध एवं अर्वाचीन महिपाल नामक पण्डित के द्वारा वि० सं० १९४० (ई० सन् १८८३) में रचित **प्रतिष्ठापाठ** नामक पुस्तक प्राप्त हुई, जिसमें लिखा हुआ था कि आचार्य कुन्दकुन्द विक्रम संवत् ७७० (ई० सन् ७१३) में वारानगर में उत्पन्न हुए थे।

आचार्य श्री हस्तीमल जी ने इस बात पर आँखें मींच कर विश्वास कर लिया और हरिवंशपुराण में वर्णित पट्टावली के आधार पर उन्होंने जो कुन्दकुन्द का काल विक्रम सं० ५३० निर्णीत किया था, उसे अप्रामाणिक घोषित करते देर नहीं लगी, क्योंकि ऐसा करने से कुन्दकुन्द और भी अर्वाचीन सिद्ध होते थे, जो उनके लिए अभिप्रेत था। अब उनके अनुसार कुन्दकुन्द का स्थितिकाल ईसा की आठवीं शताब्दी हो गया।

आचार्य जी का यह संशोधित मत भी सर्वथा अप्रामाणिक है। इण्डियन ऐण्टिक्वेरी-गत पट्टावली में कुन्दकुन्द का जो समय बतलाया गया है, उसकी प्रामाणिकता की पुष्टि साहित्यिक और अभिलेखीय प्रमाणों से हो चुकी है। अतः कुन्दकुन्द का अस्तित्व आठवीं शती ई० में बतलाया जाना प्रमाणविरुद्ध है।

वस्तुतः राजस्थान के वारा नामक नगर में एक अन्य पद्मनन्दी नामक आचार्य (ई० सन् ९७७-१०४३) हुए हैं, जिन्होंने **जंबुदीवपण्णत्ती** नामक ग्रन्थ की रचना की थी। आचार्य कुन्दकुन्द का भी एक नाम पद्मनन्दी था। इस नामसाम्य के कारण **ज्ञानप्रबोध** नामक पद्यबद्ध ग्रन्थ के किसी अज्ञात कर्त्ता ने तथा **प्रतिष्ठापाठ** के रचयिता पं० महिपाल ने उक्त **जंबुदीवपण्णत्ती** के कर्त्ता पद्मनन्दी को कुन्दकुन्दाचार्य मान लिया है। (अध्याय १० / प्र. ३ / शी. २)।

७. आचार्य हस्तीमल जी ने कुन्दकुन्द के गुरु जिनचन्द्र के भट्टारकसम्प्रदाय के पीठाधीश होने की कल्पना की है, तो क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी ने यह कल्पित किया है कि वे श्वेताम्बरमत के संस्थापक थे, बाद में दिगम्बर हो गये थे। वे लिखते हैं—

"माघनन्दी के पश्चात् कुन्दकुन्द के गुरु आचार्य जिनचन्द्र का नाम आता है।--- श्वेताम्बरसंघ के आदिप्रवर्तक का नाम भी जिनचन्द्र कहा गया है। ---इस विषय में यहाँ विचारकों के समक्ष एक **क्लिष्ट कल्पना** प्रस्तुत करता हूँ, जिसकी

युक्तता अथवा अयुक्तता के विषय में मुझे कुछ भी आग्रह नहीं है। बहुत संभव है कि ये दोनों एक ही व्यक्ति हों। भद्रबाहु-प्रथम के काल में मूलसंघ का जो भाग दक्षिण की ओर न जाकर उज्जैनी में रुक गया था, उसने परिस्थिति से बाध्य होकर अर्धफालकसंघ का रूप धारण कर लिया था, जो वि० सं० १३६ तक उसी रूप में विचरण करता रहा। --- हो सकता है कि वि० सं० १३६ में इस संघ के आचार्य शान्त्याचार्य हों और उनके शिष्य जिनचन्द्र हों। शान्त्याचार्य ने जब संघ से प्रायश्चित्तपूर्वक अपना स्थितीकरण करने की बात कही, तो इन्होंने कुछ षड्यन्त्र करके उन्हें मरवा दिया और बेधड़क होकर अपना शैथिल्य-पोषण करने के लिए सांगोपांग श्वेताम्बरसंघ की नींव डाल दी। यद्यपि उस समय वासना से प्रेरित होकर इन्होंने यह घोर अनर्थ कर डाला, तथापि ब्रह्महत्या का यह महापातक इनके अन्तष्करण को भीतर ही भीतर जलाने लगा। बहुत प्रयत्न करने पर भी जब वह शान्त नहीं हुआ, तो ये दिगम्बरसंघ की शरण में आये, क्योंकि अपनी ज्ञानगरिमा तथा तपश्चरण के कारण उस समय आचार्य माघनन्दी का तेज दिशाओं-विदिशाओं में व्याप्त हो रहा था। गुरु के चरणों में लोटकर आत्मग्लानि से प्रेरित हो, आपने अपने दुष्कृत्य की घोर भर्त्सना की और खुले हृदय से आलोचना करके उनसे प्रायश्चित्त देने के लिए प्रार्थना की। मित्र-शत्रु-समचित्त, परमोपकारी गुरु ने उनके हृदय को शुद्ध हुआ देखकर उन्हें समुचित प्रायश्चित्त दिया और उन्हें पुनः दीक्षा देकर अपने संघ में सम्मिलित कर लिया। ५-६ वर्ष पर्यन्त उग्र तपश्चरण करके जिनचन्द्र ने अपनी समस्त कालिमाएँ धो डालीं और जिनेन्द्र के समीचीन शासन में चन्द्र की भाँति उद्योत फैलाने लगे। सकल संघ के साथ अपने गुरु के भी वे विश्वासपात्र बन गये, बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि ब्राह्मण इन्द्रभूति भगवान् महावीर के। गुरुप्रवर माघनन्दी ने स्वयं अपने हाथों से वी० नि० ६१४ में उन्हें संघ के पट्ट पर आसीन कर दिया और उनकी छत्रछाया में सकलसंघ ज्ञान तथा चारित्र में उन्नत होने लगा। इस घटना के ८-९ वर्ष पश्चात् वी० नि० ६२३ (ई० सन् ९६) में कुन्दकुन्द ने उनसे दीक्षा धारण की।

"दिगम्बरसंघ के आचार्य बन जाने के कारण अवश्य ही इनके ऊपर श्वेताम्बरसंघ की ओर से कुछ आपत्तियाँ आयी होंगी, जिन्हें इन्होंने समता से सहन किया। परन्तु शिष्य होने के नाते कुन्दकुन्द उन्हें सहन न कर सके और आचार्यपद पर प्रतिष्ठत होते ही श्वेताम्बरसंघ के इस अनीतिपूर्ण दुर्व्यवहार को रोकने तथा अपने संघ की रक्षा करने के लिए उन्होंने उसके साथ मुँह-दर-मुँह होकर शास्त्रार्थ किया। कुन्दकुन्द के तप तथा तेज के समक्ष वह संघ टिक न सका और लज्जा तथा भयवश उसे अपनी प्रवृतियाँ रोक लेनी पड़ीं।" (जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश / भाग १ / परिशिष्ट ४ / जिनचन्द्र / पृष्ठ ४९०)।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी जी ने स्वयं इसे अपनी एक क्लिष्ट (संगत प्रतीत न होनेवाली) कल्पना कहा है। निश्चितरूप से यह एक अयुक्तियुक्त कल्पना है। यह निम्नलिखित हेतुओं से सिद्ध होता है—

क—शान्त्याचार्य के शिष्य जिनचन्द्र थे और उन्होंने शान्त्याचार्य का वध कर श्वेताम्बरसंघ की स्थापना की थी, यह **भावसंग्रह** (प्राकृत) के कर्त्ता दिगम्बर आचार्य देवसेन (९३३-९५५ ई०) की कल्पना है। श्वेताम्बरमत में श्वेताम्बरसम्प्रदाय का प्रवर्तक किसी जिनचन्द्र को नहीं माना गया है। अन्तिम अनुबद्ध केवली जम्बूस्वामी के निर्वाण के पश्चात् दिगम्बरों और श्वेताम्बरों की आचार्यपरम्परा भिन्न-भिन्न हो जाती है। जहाँ दिगम्बरपरम्परा में अन्तिम अनुबद्ध केवली जम्बूस्वामी के बाद प्रथम श्रुतकेवली विष्णु का नाम है, वहाँ श्वेताम्बरपरम्परा में आचार्य प्रभव का उल्लेख है। (श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री : जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा / पृष्ठ ५६२)। इससे सिद्ध होता है कि **आचार्य प्रभव** श्वेताम्बरसंघ के संस्थापक थे। किन्तु अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु (वीर नि० सं० १६२) के समकालीन आचार्य स्थूलभद्र को श्वेताम्बरपरम्परा में अन्त्यन्त महत्त्व दिया गया है और श्वेताम्बर विद्वान् डॉ० सागरमल जी ने लिखा है कि "दक्षिण का अचेल निर्ग्रन्थसंघ **भद्रबाहु** की परम्परा से और उत्तर का सचेल निर्ग्रन्थसंघ **स्थूलभद्र** की परम्परा से विकसित हुआ।" (जैनधर्म की ऐतिहासिक विकासयात्रा / पृ.२९)। इस श्वेताम्बरीय मान्यता से क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी जी की यह कल्पना निरस्त हो जाती है कि कुन्दकुन्द के गुरु जिनचन्द्र पूर्व में श्वेताम्बरसंघ के संस्थापक थे।

ख—श्वेताम्बरसंघ के संस्थापक आचार्य स्थूलभद्र अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के समकालीन होने से ईसा पूर्व चौथी शताब्दी (वीर नि० सं० १६२ = ई० सन् ३६५) में हुए थे, जब कि आचार्य देवसेन ने शान्त्याचार्य का वधकर जिनचन्द्र द्वारा श्वेताम्बरसंघ स्थापित किये जाने की घटना वि० सं० १३६ (ई० सन् ७९) में घटी बतलायी है। इस कालवैषम्य से भी क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी की कल्पना अयुक्तियुक्त सिद्ध होती है।

ग—दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं का साहित्य इस बात का उल्लेख करता है कि अन्तिम अनुबद्ध केवली जम्बूस्वामी के निर्वाण (वीर नि० सं० ६२ = ईसा पूर्व ४६५) के पश्चात् दोनों संघों की आचार्यपरम्परा भिन्न-भिन्न हो गयी थी। यह इस तथ्य का ज्वलन्त प्रमाण है कि श्वेताम्बरसंघ का उदय ईसापूर्व ४६५ में हो गया था। श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय (ईसापूर्व चौथी शताब्दी) में द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष के फलस्वरूप निर्ग्रन्थसंघ का जो दूसरा विभाजन हुआ था, उससे श्वेताम्बरसंघ नहीं, अपितु **अर्धफालकसंघ** अस्तित्व में आया था, जो आगे चलकर ईसा की द्वितीय शताब्दी में श्वेताम्बरसंघ में विलीन हो गया। इस आगमप्रमाण से भी क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी जी की कल्पना अत्यन्त अप्रामाणिक सिद्ध होती है।

घ—यह मान्यता भी अप्रामाणिक है कि अर्धफालकसंघ वि० सं० १३६ (ई० सन् ७९) में श्वेताम्बरसम्प्रदाय के रूप में परिवर्तित हो गया था, क्योंकि मथुरा के कंकालीटीले की खुदाई में जो जिनप्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं, वे प्रथम शताब्दी ई० की हैं, उनमें से कुछ अर्धफालक सम्प्रदाय के साधुओं द्वारा प्रतिष्ठापित की गयी थीं। इससे सिद्ध होता है कि अर्धफालकसम्प्रदाय ईसा की प्रथम शती तक श्वेताम्बरसंघ में विलीन नहीं हुआ था। इस प्रमाण से भी क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी की यह मान्यता निरस्त हो जाती है कि जिनचन्द्र ने वि० सं० १३६ (ई० सन् ७९) में श्वेताम्बरसंघ की स्थापना की थी।

ङ—क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी ने भावसंग्रह (प्राकृत) के अनुसार जिनचन्द्र को वि० सं० १३६ (ई० सन् ७९) में श्वेतम्बरसंघ का संस्थापक माना है और कुछ वर्षों बाद उनके दिगम्बरसंघ में लौटने और ई० सन् ९६ में उनके द्वारा कुन्दकुन्द को दीक्षा दिये जाने की कल्पना की है। किन्तु **दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी** की नन्दिसंघीय पट्टावली में बतलाया गया है कि कुन्दकुन्द का जन्म ईसा से ५२ वर्ष पूर्व हुआ था और ईसा से ८ वर्ष पूर्व ४४ वर्ष की आयु में उन्होंने मुनिदीक्षा ग्रहण की थी। इस प्रमाण के अनुसार कुन्दकुन्द की मुनिदीक्षा क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी जी के कल्पित समय से १०४ वर्ष पहले ही हो गयी थी, अतः क्षुल्लक जी का मत प्रमाणविरुद्ध है।

च—आचार्य जिनचन्द्र कुन्दकुन्द के गुरु थे और 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' में प्रकाशित पट्टावली में उनका पट्टारोहणकाल कुन्दकुन्द के पट्टारोहणकाल (वि० सं० ४९ = ईसापूर्व ८) से ९ वर्ष पूर्व (वि० सं० ४० = ईसापूर्व १७ में) बतलाया गया है। इस प्रमाण से सिद्ध होता है कि क्षुल्लक जिनेन्द्रवर्णी ने वि० सं० १३६ अर्थात् ई० सन् ७९ में जिस जिनचन्द्र को शान्त्याचार्य का वध कर श्वेताम्बरसंघ का संस्थापक तथा ई० सन् ९६ में कुन्दकुन्द का दीक्षागुरु माना है, वह उनका दीक्षागुरु हो ही नहीं सकता। सच तो यह है कि उसका अस्तित्व ही नहीं था, क्योंकि **भद्रबाहुचरित** के कर्त्ता रत्ननन्दी ने शान्त्याचार्य के स्थान में स्थूलाचार्य के वध की बात कही है, और किसी जिनचन्द्र को वधकर्त्ता न बतलाकर सभी विरोधी मुनियों को वधकर्त्ता बतलाया है। (अध्याय ६/प्र.१/शी.८)। इसके अतिरिक्त वि० सं० १३६ में श्वेताम्बरमत की उत्पत्ति हुई ही नहीं थी, वह जम्बूस्वामी के निर्वाण के पश्चात् अर्थात् ईसापूर्व ४६५ में ही हो गयी थी तथा अर्धफालकसम्प्रदाय का भी श्वेताम्बरीकरण वि० सं० १३६ अर्थात् ७९ ई० में न होकर उसके सौ-पचास वर्ष बाद हुआ था।

८. आचार्य जयसेन ने पंचास्तिकाय और प्रवचनसार की टीका में लिखा है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने शिवकुमार महाराज के प्रतिबोधनार्थ इन ग्रन्थों की रचना की

थी। इस आधार पर **डॉ० के० बी० पाठक** ने अनुमान लगाया है कि विक्रम की छठी शती (५ वीं शती ई०) के कदम्बवंशीय राजा श्रीविजय-शिवमृगेशवर्मा के लिए उक्त ग्रन्थ रचे गये थे, अतः कुन्दकुन्द विक्रम की छठी शती (पाँचवीं शताब्दी ई०) में हुए थे। किन्तु, आचार्य जयसेन ने प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति में प्रथम प्रस्तावनावाक्य के द्वारा शिवकुमार का जो वर्णन किया है, उससे स्पष्ट है कि वे राजा नहीं थे, अपितु कोई अराजवंशीय पुरुष थे। अतः डॉ० पाठक का मत निरस्त हो जाता है। (अध्याय १० / प्र. २ / शी. १)।

९. **मुनि श्री कल्याणविजय जी** ने कुन्दकुन्द को दिगम्बरजैनमत का प्रवर्तक माना है और डॉ० के० बी० पाठक को प्रमाण मानते हुए, यह भी माना है कि राजा श्रीविजय-शिवमृगेशवर्मा कुन्दकुन्द के शिष्य थे, इसलिए कुन्दकुन्द विक्रम की छठी शती में हुए थे। किन्तु उक्त राजा के देवगिरि-ताम्रपत्रलेख (४७०-४९० ई०) में श्वेतपटमहाश्रमण-संघ और निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघ को ग्रामदान किये जाने का उल्लेख है, जिससे स्पष्ट है कि दिगम्बरजैन-परम्परा (निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघ) उक्त राजा के पहले से चली आ रही थी। अतः मुनि जी की कुन्दकुन्द के दिगम्बरजैनमत-प्रवर्तक होने की मान्यता से सिद्ध होता है कि कुन्दकुन्द भी राजा श्रीविजय-शिवमृगेशवर्मा से बहुत पहले हुए थे। तथा, यदि कुन्दकुन्द इस राजा के गुरु होते, तो यह राजा ताम्रपत्रलेख में उनके नाम का उल्लेख अवश्य करता। किन्तु, नहीं किया, इससे स्पष्ट होता है कि कुन्दकुन्द श्रीविजय-शिवमृगेशवर्मा के गुरु नहीं थे। इन दो हेतुओं से भी कुन्दकुन्द के विक्रम की छठी शती में होने का मत निरस्त हो जाता है। मुनि कल्याणविजय जी ने विक्रम की छठी शती के समर्थन में और भी अनेक हेतु प्रस्तुत किये हैं, वे भी निरस्त हो जाते हैं। यथा—

९.१. **हेतु**—नियमसार में वि० सं० ५१२ में रचित 'लोकविभाग' नामक ग्रन्थ का उल्लेख है।

निरसन—नियमसार में 'लोयविभागे' (एकवचनान्त) पद नहीं है, अपितु 'लोय-विभागेसु' ('लोकविभागों में'—'बहुवचनान्त') पद है। अतः यह किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ का नाम नहीं है, अपितु लोकानुयोग-विषयक-प्रकरणसमूह का वाचक है।

९.२. **हेतु**—समयसार में तृतीय शती ई० के विष्णुकर्तृत्ववाद का उल्लेख है।

निरसन-विष्णुकर्तृत्ववाद ऋग्वेदकालीन है।

९.३. **हेतु**—षट्प्राभृतों में परवर्ती चैत्यादि एवं शिथिलाचारी मुनियों का वर्णन है।

निरसन—चैत्यगृह-प्रतिमादि ईसापूर्वकालीन हैं और 'पासत्थ' आदि शिथिलाचारी मुनियों का अस्तित्व अनादि से है।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

९.४. **हेतु**—जिस मर्करा-ताम्रपत्र में कुन्दकुन्दान्वय का उल्लेख है, उसमें ७वीं सदी ई० में प्रचलित हुए 'भटार' शब्द का प्रयोग है।

निरसन—आदरसूचक 'भटार' शब्द का प्रचलन प्राचीन है।

९.५. **हेतु**—कोई भी पट्टावली वीर नि० सं० के अनुसार रचित नहीं है।

निरसन—'तिलोयपण्णत्ती' आदि में वीर-निर्वाणानुसार ही कालगणना है। (अध्याय १० / प्र.२ / शी. ६)।

१०. **पं० दलसुख मालवणिया** मानते हैं कि कुन्दकुन्द 'तत्त्वार्थसूत्र' की रचना के बाद अर्थात् तीसरी-चौथी शताब्दी ई० के पश्चात् हुए थे। इस मत के समर्थन में उनके द्वारा उपस्थित किये गये सभी हेतु असत्य हैं। यथा—

१०.१. **हेतु**—उमास्वाति के 'तत्त्वार्थ' में वर्णित जैनदर्शन की अपेक्षा आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में प्रतिपादित जैनदर्शन का रूप विकसित है। उदाहरणार्थ उन्होंने ब्रह्माद्वैत और विज्ञानाद्वैत का अनुकरण कर जैनदर्शन को अद्वैतवाद के निकट लाकर खड़ा कर दिया है।

निरसन—ब्रह्माद्वैतवाद में ब्रह्मरूप एक ही द्रव्य का अस्तित्व मान्य है, उसकी संख्या भी एक ही मानी गयी है, और उसमें द्रव्य और गुण का भेद भी नहीं माना गया है। इस तरह वह एकान्त अद्वैतवाद है। कुन्दकुन्द ने छह द्रव्यों का प्रतिपादन किया है, उनमें भी जीवद्रव्य की संख्या अनन्त और पुद्गल की अनन्तानन्त बतलायी है, साथ ही प्रत्येक द्रव्य में लक्षणभेद की दृष्टि से द्रव्य और गुण का भेद भी बतलाया है और सत्ता की दृष्टि से उनमें अभेद भी स्वीकार किया है। इस प्रकार कुन्दकुन्द ने द्वैत और अद्वैत दोनों का प्रतिपादन किया है, जो वस्तुतः **द्वैताद्वैतरूप द्वैत** ही है। अतः कुन्दकुन्द द्वारा प्रतिपादित जैनदर्शन ब्रह्माद्वैतवाद के निकट तो क्या, इतना अधिक दूर है जितना धरती से आकाश। (अध्याय १० / प्र. ४ / शी.२)।

१०.२. **हेतु**—पंचास्तिकाय की '**सस्सदमध उच्छेदं**' इत्यादि गाथा (३७) से ज्ञात होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द न केवल पुराने 'शाश्वतवाद' और 'उच्छेदवाद' से, बल्कि नवीन 'विज्ञानाद्वैत' और 'शून्यवाद' से भी परिचित थे।

निरसन—उक्त गाथा में वर्णित 'शाश्वत'-'उच्छेद', 'शून्य'-'विज्ञान' आदि परस्पर-विरोधी वाद नहीं हैं, अपितु जीव द्रव्य के परस्परविरुद्ध धर्मयुगल हैं।

१०.३. **हेतु**—कुन्दकुन्द ने समयसार (गाथा ३२१-३२३) में विष्णु के जगत्कर्तृत्व की मान्यता और आत्मा के जगत्कर्तृत्व की मान्यता, दोनों को व्यवहारनय की अपेक्षा

समानरूप से सत्य बतलाया है। यह तत्त्वार्थसूत्र की अपेक्षा कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में पाये जानेवाले जैनदर्शन के विकसित रूप का दूसरा उदाहरण है।

निरसन—समयसार की उक्त गाथाओं की यह व्याख्या कुन्दकुन्द के मत के सर्वथा प्रतिकूल है। उन्होंने तो उन गाथाओं में यह कहा है कि जगत्कर्तृत्व-सम्बन्धी उक्त दोनों मान्यताएँ मिथ्या हैं।

१०.४. **हेतु**—कुन्दकुन्द ने शुभ, अशुभ और शुद्ध की अवधारणाएँ सांख्यकारिका से ग्रहण की हैं।

निरसन—कुन्दकुन्द ने स्वयं कहा है कि 'मैंने श्रुतकेवली के उपदेश को ही समयसार में वर्णित किया है'—"**वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणियं**" (स.सा. / गा.१)। अतः सांख्यकारिका से ग्रहण करने की धारणा कपोलकल्पित है।

१०.५. **हेतु**—कुन्दकुन्द ने सांख्यमत का अनुकरण कर आत्मा को कर्त्ता और अकर्त्ता कहा है।

निरसन—इस मान्यता का कोई प्रमाण नहीं है। कुन्दकुन्द का समस्त तत्त्व-निरूपण श्रुतकेवली के उपदेश पर आधरित है

१०.६. **हेतु**—कुन्दकुन्द ने सांख्यदर्शन से प्रभावित होकर आत्मा के अकर्तृत्व का समर्थन और कर्मों के लिए 'प्रकृति' शब्द का प्रयोग किया है।

निरसन—सांख्यदर्शन पुरुष (आत्मा) को सर्वथा अकर्त्ता और प्रकृति को सर्वथा कर्त्री मानता है। किन्तु कुन्दकुन्द ने इन दोनों के सर्वथा अकर्तृत्व और सर्वथा कर्तृत्व का निषेध किया है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि कुन्दकुन्द ने सांख्यदर्शन से प्रभावित होकर 'पुरुष' के सर्वथा अकर्तृत्व का समर्थन किया है। तथा 'कर्मों' के लिए 'प्रकृति' शब्द का प्रयोग कुन्दकुन्द से पूर्ववर्ती **षट्खण्डागम** में मिलता है, तब यह कथन भी मिथ्या सिद्ध हो जाता है कि कुन्दकुन्द ने सांख्यदर्शन से 'प्रकृति' शब्द ग्रहण किया है।

१०.७. **हेतु**—तत्त्वार्थसूत्र की अपेक्षा कुन्दकुन्द-साहित्य में प्रतिपाद्य विषय की विविधता और व्याख्या-दृष्टान्तादि-कृत विस्तार है। यह तत्त्वार्थसूत्र की अपेक्षा कुन्दकुन्द-साहित्य के अर्वाचीन होने का लक्षण है।

निरसन—किसी ग्रन्थ के संक्षेप और विस्तार का कारण प्रयोजनभेद और कर्त्तागत रुचिभेद है, काल की पूर्वापरता नहीं। यदि ग्रन्थ के लघुरूप को प्राचीनता का और विस्तृतरूप को अर्वाचीनता का लक्षण माना जाय, तो सभी श्वेताम्बर-'अंग' और 'उपांग'

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

तत्त्वार्थसूत्र से अर्वाचीन सिद्ध होंगे, क्योंकि वे 'तत्त्वार्थसूत्र' से कई गुना विस्तृत हैं, तथा उनमें विषय का वैविध्य और नवीनता भी है, अर्थात् उनमें उन विषयों का वर्णन है, जो तत्त्वार्थसूत्र में नहीं हैं। इसके अतिरिक्त तत्त्वार्थसूत्र में व्याख्या-दृष्टान्तादिगत विस्तार को छोड़कर ऐसा विषयवैविध्य या विषयविस्तार तथा विशेषीकरण-विभेदीकरण आदि भी विद्यमान हैं, जो कुन्दकुन्दसाहित्य में दृष्टिगोचर नहीं होते। (अध्याय १०/ प्र.४)।

इस प्रकार मान्य मालवणिया जी ने तत्त्वार्थसूत्र की अपेक्षा कुन्दकुन्दसाहित्य में जैनदर्शन के रूप को विकसित मान कर, कुन्दकुन्द को तत्त्वार्थसूत्रकार से अर्वाचीन अर्थात् तीसरी-चौथी शताब्दी ई० के बाद का साबित करने के लिए जो हेतु प्रस्तुत किये हैं, वे सभी मिथ्या सिद्ध हो जाते हैं। अतः यह निर्णय अबाधित ठहरता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में हुए थे।

११. किसी भी श्वेताम्बर-आगम में **गुणस्थान-सिद्धान्त** का प्रतिपादन नहीं है। **समवायांग** में १४ गुणस्थानों के नाम वर्णित हैं, किन्तु वे प्रक्षिप्त हैं। भगवतीसूत्र, प्रज्ञापनासूत्र आदि में गुणस्थानों के नाम-जैसे १३ शब्द उपलब्ध होते हैं, किन्तु उनका गुणस्थान-सिद्धान्त से कोई सम्बन्ध नहीं है। **डॉ० सागरमल जी** ने तत्त्वार्थसूत्र को स्वकल्पित उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा (पाँचवीं शती ई० से पूर्ववर्ती) में रचित मानकर उसमें भी गुणस्थान-सिद्धान्त का अभाव बतलाया है। और चूँकि षट्खण्डागम, कुन्दकुन्दसाहित्य, भगवती-आराधना, मूलाचार आदि में गुणस्थानों के आधार पर विस्तार से निरूपण किया गया है, अतः डॉक्टर सा० का मत है कि गुणस्थानसिद्धान्त तत्त्वार्थसूत्र की रचना के बाद विकसित हुआ है। इसलिए समयसार, नियमसार, भगवती-आराधना आदि की रचना तत्त्वार्थसूत्र (श्वेताम्बरमतानुसार तीसरी-चौथी शती ई०) के बहुत बाद, छठी शती ई० के उत्तरार्ध में अथवा उसके भी बाद हुई है (अध्याय १०/प्र.५/ शी.१)। अर्थात् कुन्दकुन्द छठी या सातवीं शती ई० के आचार्य हैं। डॉक्टर सा० ने तत्त्वार्थसूत्र में गुणस्थानसिद्धान्त के अभाव का हेतु यह बतलाया है कि उसमें न तो 'गुणस्थान' शब्द का प्रयोग हुआ है, न ही चौदह गुणस्थानों के नाम एक साथ बतलाये गये हैं। गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में जो गुणस्थानों के नाम आये हैं, उन्हें डॉक्टर सा० ने गुणस्थान न कहकर **आध्यात्मिक विकास की अवस्था** कहा है।

डॉक्टर सा० की यह मान्यता प्रत्यक्ष प्रमाण का सरासर अपलाप है। यह निम्नलिखित प्रमाणों से सिद्ध है—

क—तत्त्वार्थसूत्र में गुणस्थानों का उल्लेख न केवल गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में है, अपितु परीषहों, ध्यानभेदों, आहारकशरीर और पञ्चचारित्रप्रकारों के वर्णन-प्रसंग में भी है।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

ख—तत्त्वार्थसूत्र में नौ गुणस्थानों का कथन शब्दतः है, और पाँच का अर्थतः। इस प्रकार उसमें चौदहों गुणस्थानों का वर्णन है।

ग—तत्त्वार्थसूत्र के गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में **उपशमक** और **क्षपक श्रेणियों** का उल्लेख तथा **अनन्तवियोजक** एवं **दर्शनमोहक्षपक** संज्ञाओं का प्रयोग तत्त्वार्थसूत्रकार के गुणस्थान-सिद्धान्त-विषयक गहन और सूक्ष्म ज्ञान का परिचायक है।

घ—तत्त्वार्थसूत्र का सम्पूर्ण विषयप्रतिपादन गुणस्थान-केन्द्रित है और उसकी गुणस्थान-केन्द्रितता सर्वमान्य है।

ङ—तत्त्वार्थसूत्र में जिस कर्मव्यवस्था का प्ररूपण है, उससे चतुर्दश-गुणस्थान-व्यवस्था स्वतः सिद्ध होती है। अतः गुणस्थान-व्यवस्था उतनी ही प्राचीन है, जितनी तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित कर्मव्यवस्था।

च—तत्त्वार्थसूत्र में उल्लिखित सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत आदि अवस्थाएँ लक्षणतः गुणस्थान हैं। उन्हें केवल इसलिए गुणस्थान न मानना कि उनके साथ 'गुणस्थान' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है, वैसी ही कथा है, जैसे कोई हाथी को साक्षात् खड़ा हुआ देखकर भी उसे इसलिए हाथी न माने कि उसके ऊपर 'हाथी' शब्द नहीं लिखा है।

छ—'तत्त्वार्थ' के गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में उल्लिखित 'सम्यग्दृष्टि', 'श्रावक', 'विरत' आदि अवस्थाएँ गुणस्थान ही हैं, उनके लिए 'आध्यात्मिक विकास की अवस्थाएँ' शब्द का प्रयोग आगमोक्त नहीं है, स्वकल्पित है। इस शब्द का प्रयोग तो तत्त्वार्थसूत्रकार ने भी नहीं किया।

ज—श्वेताम्बर-आगमों में न तो गुणस्थानों की मान्यता है, न गुणश्रेणिनिर्जरा के स्थानों की। 'समवायांग' और 'आचारांगनिर्युक्ति' में इनका प्रवेश षट्खण्डागम से हुआ है। तत्त्वार्थसूत्र में भी वहीं से आये हैं। इस प्रकार गुणस्थानसिद्धान्त तत्त्वार्थसूत्र से पूर्ववर्ती है। फलस्वरूप उसके विकसित होने की मान्यता अप्रामाणिक है। अतः यह मत भी प्रमाणविरुद्ध है कि कुन्दकुन्द तत्त्वार्थसूत्र की रचना के बाद छठी-सातवीं शती ई० में हुए थे। इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द ईसा-पूर्वोत्तर प्रथम शती में हुए थे, यह मत अक्षुण्ण रहता है।

१२. डॉ० सागरमल जी का दूसरा तर्क यह है कि तत्त्वार्थसूत्र तथा उसके उमास्वातिकृत भाष्य में नयप्रमाण-सप्तभंगी का भी उल्लेख नहीं है, जब कि कुन्दकुन्द के पंचास्तिकाय में उसका स्पष्ट शब्दों में वर्णन है। इससे सिद्ध होता है कि तत्त्वार्थसूत्र के रचनाकाल तक सप्तभंगी का भी विकास नहीं हुआ था, अतः तत्त्वार्थसूत्र कुन्दकुन्द

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

से पूर्व की रचना है। इसलिए कुन्दकुन्द तत्त्वार्थसूत्रकार के बाद विक्रम की छठी शती में हुए थे।

डॉ० सागरमल जी की यह धारणा भी मिथ्या है। सप्तभंगी की चर्चा तत्त्वार्थसूत्र से बहुत पहले के ग्रन्थों में उपलब्ध होती है। श्वेताम्बर-आगम भगवतीसूत्र (व्याख्या-प्रज्ञप्ति) में सातों भंगों का उल्लेख है तथा बादरायण व्यास (५०० ई० पू० — २०० ई० पू०) ने **ब्रह्मसूत्र** में सप्तभंगी की आलोचना की है। अतः पंचास्तिकाय में उसका वर्णन होने से कुन्दकुन्द तत्त्वार्थसूत्रकार से उत्तरवर्ती सिद्ध नहीं होते।

१३. **प्रो० एम० ए० ढाकी** ने अप्रामाणिक हेतुओं के द्वारा आचार्य कुन्दकुन्द का स्थितिकाल ८वीं शताब्दी ई० सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उनके द्वारा प्रस्तुत हेतुओं का निरसन नीचे किया जा रहा है—

१३.१. **हेतु**—आठवीं शती ई० से पूर्ववर्ती ग्रन्थों में कुन्दकुन्द का उल्लेख नहीं है।

निरसन—प्रथम शती ई० की 'भगवती-आराधना' और 'मूलाचार' में कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की गाथाएँ उपलब्ध होती हैं। प्रथम-द्वितीय शती ई० में रचित 'तत्त्वार्थसूत्र' के अनेक सूत्रों की रचना कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के आधार पर की गयी है। द्वितीय शती ई० की 'तिलोयपण्णत्ती' में भी कुन्दकुन्द की दर्जनों गाथाएँ आत्मसात् की गयी हैं। पाँचवीं शती ई० में हुए पूज्यपादस्वामी ने 'सर्वार्थसिद्धिटीका' में कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की कई गाथाएँ उद्धृत की हैं और 'इष्टोपदेश' तथा 'समाधितन्त्र' में अनेक गाथाओं का संस्कृत श्लोकों में परिवर्तन किया है। छठी शती ई० के 'परमात्मप्रकाश' एवं ७वीं शती ई० के 'वरांगचरित' में भी उनकी गाथाओं को क्रमशः अपभ्रंश-दोहों एवं संस्कृत श्लोकों में ढाला गया है। ये आठवीं शती ई० से पूर्व के ग्रन्थों में कुन्दकुन्द के उल्लेख के बहुसंख्यक एवं अकाट्य प्रमाण हैं।

१३.२. **हेतु**—जिस मर्करा-ताम्रपत्रलेख (क्र० ९५) को शकसंवत् ३८८ (ई० सन् ४६६) का माना गया है और जिसमें कुन्दकुन्दान्वय का उल्लेख है, वह जाली है और उसमें उल्लिखित संवत् शकसंवत् नहीं है।

निरसन—मर्करा-ताम्रपत्रलेख के अनुसार जिन कोङ्गणि-महाधिराज अविनीत ने कुन्दकुन्दान्वय के चन्दणंदिभटार को तलवननगर के जिनालय के लिए बदणेगुप्पे ग्राम अपने मन्त्री के हाथ से दान कराया था, वे महाधिराज अविनीत और चन्द्रणंदिभटार शकसंवत् ३८८ (४६६ ई०) में ही विद्यमान हो सकते हैं, उसके बाद नहीं, यह ४२५ ई० के नोणमंगल-ताम्रपत्र-लेख (क्र० ९४) से प्रमाणित है, क्योंकि उसमें भी उन

दोनों का उल्लेख है। अतः उक्त संवत् शकसंवत् ही है। यह सत्य है कि राजा अकालवर्ष-पृथुवीवल्लभ कृष्ण तृतीय (९३७-९६८ ई०) के काल में मर्करा-ताम्रपत्रों का पुनर्लेखन कराया गया और उनमें ग्रामदान का वृत्तान्त तो पूर्ववत् ही पूर्वोल्लिखित शकसंवत् ३८८ के साथ पुनः लिखवाया गया, किन्तु कोङ्गणि-महाधिराज अविनीत के मन्त्री के स्थान में अकालवर्ष-पृथुवीवल्लभ के मन्त्री का उल्लेख कर दिया गया, यह अनेक युक्तियों से सिद्ध होता है। (अध्याय १० / प्र.१ / शी.११)। अतः वह अंशतः कृत्रिम है, पूर्णतः नहीं। इसलिए कुन्दकुन्दान्वय का शकसंवत् ३८८ (ई० सन् ४६६) और उससे पूर्व में तथा कुन्दकुन्द का ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में विद्यमान होना असिद्ध नहीं होता।

१३.३. **हेतु**—आचार्य कुन्दकुन्द ने ८ वीं शती ई० के राजा शिवमार के लिए प्रवचनसार की रचना की थी।

निरसन—आचार्य जयसेन ने शिवमार के लिए नहीं, शिवकुमार के लिए प्रवचनसार और पंचास्तिकाय के रचे जाने का कथन किया है और वे राजा नहीं थे, बल्कि अराजवंशीय सामान्य पुरुष थे।

१३.४. **हेतु**—आचार्य जयसेन ने पंचास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति में कुमारनन्दि-सिद्धान्तदेव को कुन्दकुन्द का गुरु कहा है। वे ८वीं शती ई० में हुए थे, यह शकसंवत् ७३० (ई० ८०८) के वदनोगुप्पे-ताम्रपट्ट-दानपत्र से सिद्ध है।

निरसन—उक्त दानपत्र में 'कुमारणन्दिभटार' और 'एलवाचार्यगुरु' नाम उल्लिखित हैं। 'कुमारनन्दिसिद्धान्तदेव' और 'कुमारणन्दिभटार' तथा 'एलाचार्य' और 'एलवाचार्यगुरु' इन नामों में बहुत अन्तर है। इनके एकत्व की पुष्टि करनेवाला कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। अतः कुन्दकुन्द को ८ वीं शती ई० में विद्यमान मानना अप्रामाणिक है।

१३.५. **हेतु**—कुन्दकुन्द ने लिंगप्राभृत (लिंगपाहुड) में मुनियों की जिन शिथिलाचारी प्रवृत्तियों पर प्रहार किया है, वे छठी शती ई० के बाद की घटनाएँ हैं।

निरसन—कुन्दकुन्द ने उन्हें अनादि से प्रवृत्त कहा है।

१३.६. **हेतु**—छठी शती ई० में रचित षट्खण्डागम पर कुन्दकुन्द ने टीका लिखी है।

निरसन—षट्खण्डागम ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के पूर्वार्ध की रचना है।

१३.७. **हेतु**—कुन्दकुन्द ने छठी शती ई० में रचित यापनीयग्रन्थ 'मूलाचार' का अनुकरण कर 'समयसार' में 'प्रतिक्रमणादि को विषकुम्भ' कहनेवाली गाथा (३०६)

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

रची है। उसमें जो कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की गाथाएँ मिलती हैं, वे उस समय प्रक्षिप्त की गयी हैं, जब वह यापनीयों के माध्यम से दिगम्बरों के पास आया। उसमें छठी शती ई० के आरंभ में रचित श्वेताम्बर-निर्युक्तियों की गाथाएँ मिलती हैं, इसलिए वह (मूलाचार) छठी शती ई० के उत्तरार्ध में रचा गया है।

निरसन—मूलाचार दिगम्बरग्रन्थ है, क्योंकि उसमें यापनीयमत-विरुद्ध सिद्धान्तों का प्रतिपादन है। इसलिए वह यापनीयों के माध्यम से दिगम्बरों के पास आया है, इस कल्पना के लिए स्थान नहीं है। अतएव उसमें कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की गाथाएँ प्रक्षिप्त किये जाने की कल्पना निराधार है। मूलाचार के कर्त्ता ने स्वयं उन्हें कुन्दकुन्द के ग्रन्थों से ग्रहण किया है। उसमें छठी शती के आरंभ में रचित श्वेताम्बर-निर्युक्तियों की गाथाएँ नहीं हैं, बल्कि उसकी गाथाएँ श्वेताम्बर-निर्युक्तियों में है, अतः उसे छठी शती ई० में रचित मानना निराधार है। वह ईसा की प्रथम शती के उत्तरार्ध की कृति है।

१३.८. **हेतु**—कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में छठी शती ई० के श्वेताम्बर-प्रकीर्णक ग्रन्थों की गाथाएँ हैं।

निरसन—इसके विपरीत श्वेताम्बर-प्रकीर्णक ग्रन्थों में कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की गाथाएँ हैं, क्योंकि कुन्दकुन्द ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में हुए थे।

१३.९. **हेतु**—छठी शती ई० के सिद्धसेन दिवाकर और मल्लवादी ने निश्चयनय का प्रयोग गहराई और विस्तार से नहीं किया, कुन्दकुन्द ने किया है, अतः वे उत्तरवर्ती हैं।

निरसन—श्वेताम्बरपरम्परा में द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग का अध्यात्मपक्ष सुरक्षित नहीं रहा, इसलिए उसमें निश्चयनय के गहन और विस्तृत प्रयोग के लिए अवसर ही नहीं था। होता, तो वे भी वैसा ही करते।

१३.१०. **हेतु**—कुन्दकुन्द ने आत्मा के शुद्धस्वरूप के प्रतिपादन में ८वीं शती ई० के वेदान्तिक गौडपाद का अनुसरण किया है।

निरसन—कुन्दकुन्द ने स्वयं कहा है कि उन्होंने श्रुतकेवली के उपदेश के आधार पर अपने ग्रन्थों की रचना की है।

१३.११. **हेतु**—'समय' शब्द बहुत पहले से 'मत' (स्वमत-परमत) के अर्थ में प्रसिद्ध था, कुन्दकुन्द ने उसे 'आत्मा' के अर्थ में प्रचलित कर दिया, जो नवीन होने के कारण कुन्दकुन्द को अर्वाचीन सिद्ध करता है।

श्री दिगम्बर जैन सर्वोदय पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

निरसन—'आत्मा' के अर्थ में भी 'समय' शब्द का प्रयोग परम्परागत है।

१३.१२. **हेतु**—कुन्दकुन्द ने उपयोग के शुभ और अशुभ भेदों के अतिरिक्त तीसरे 'शुद्ध' भेद को भी जन्म दिया है। यह ८ वीं शती ई० से पहले अज्ञात था।

निरसन—आठवीं शती के पहले से लेकर ईसा की प्रथम शती तक के ग्रन्थों में भी शुद्धोपयोग का उल्लेख मिलता है। भगवती-आराधना, मूलाचार, सर्वार्थसिद्धि आदि ग्रन्थ इसके प्रमाण हैं।

१३.१३. **हेतु**—कुन्दकुन्द स्याद्वाद और सप्तभंगी से परिचित हैं, जब कि उमास्वाति और सिद्धसेन अपरिचित हैं।

निरसन—उमास्वाति ने 'तत्त्वार्थ' के अनेक सूत्रों की रचना कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के आधार पर की है। अतः वे स्याद्वाद और सप्तभंगी से परिचित भले न हों, कुन्दकुन्द से हैं।

१३.१४. **हेतु**—आत्मा के बहिरात्मादि तीन भेदों को पूज्यपाद देवनन्दी ने उपनिषदों से ग्रहण किया है और देवनन्दी से कुन्दकुन्द ने। देवनन्दी ७ वीं शती ई० में हुए थे, अतः कुन्दकुन्द उनसे उत्तरवर्ती हैं।

निरसन—कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों में सम्पूर्ण तत्त्वनिरूपण श्रुतकेवली भद्रबाहु के उपदेश के आधार पर किया है, अतः बहिरात्मादि भेदों को उपनिषदों से ग्रहण करने का प्रश्न ही नहीं उठता। तथा पूज्यपाद स्वामी ने 'सर्वार्थसिद्धि' में कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की गाथाएँ उद्धृत की हैं और अनेक गाथाओं को अपने 'समाधिशतक' एवं 'इष्टोपदेश' में संस्कृत श्लोकों में ढाला है। अतः वे कुन्दकुन्द से परवर्ती हैं। तथा पूज्यपाद देवनन्दी ५वीं शती ई० में हुए थे, ७ वीं में नहीं।

१४. श्वेताम्बर विद्वान् **डॉ० आर० के० चन्द्र** का कथन है कि कुन्दकुन्द के 'षट्प्राभृत' में अपभ्रंशभाषा का प्रयोग है, इसलिए उसका रचनाकाल अपभ्रंशयुग (पाँचवीं-छठी शताब्दी ई०) में चला जाता है।

डॉ० चन्द्र का अपभ्रंश-प्रयोग को ईसा की पाँचवीं-छठी शताब्दी से सम्बद्ध करना समीचीन नहीं है। इतिहासकार श्री चिमनलाल जैचंद शाह का मत है कि ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी के खारवेल-हाथीगुम्फाभिलेख में अपभ्रंश के प्रयोग मिलते हैं। प्रथम शताब्दी ई० में हुए महाकवि कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में अपभ्रंश के पद्य मिलते हैं, जिन्हें प्राकृतभाषाविद् जर्मन विद्वान् डॉ० रिचार्ड पिशल ने मौलिक बतलाया है। ईसापूर्व तृतीय शताब्दी के अशोक के शिलालेखों में तो हिन्दी के प्रयोग भी मिलते हैं, और स्वयं डॉ० आर० के० चन्द्र ने ईसापूर्व पाँचवीं शती की कृति माने जानेवाले

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

'दशवैकालिकसूत्र' में हिन्दी शब्दों के प्रयोग के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। (अध्याय १०/प्र.७)। अतः 'षट्प्राभृत' में अपभ्रंश-प्रयोग उपलब्ध होने से यह सिद्ध नहीं होता कि कुन्दकुन्द ईसा की पाँचवी-छठी शताब्दी में हुए थे। अपभ्रंशप्रयोग से उनका ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में विद्यमान होना बाधित नहीं होता।

१५. **प्रो० हीरालाल जी जैन ने** (जो दिगम्बर जैन थे) एक चौंकानेवाले कपोल-कल्पित इतिहास के आधार पर आचार्य कुन्दकुन्द का समय वीरनिर्वाण के ६५० वर्ष बाद अर्थात् ईसा की द्वितीय शताब्दी (ईसापूर्व ६५०-५२७=१२३ ई०) में बतलाया है। उन्होंने अपने '**जैन इतिहास का एक विलुप्त अध्याय**' नामक शोधपत्र में, जो 'अखिल भारतीय प्राच्यसम्मेलन के १२ वें अधिवेशन' (ई० सन् १९४४) में पढ़ा था, केवल नामसाम्य के आधार पर भगवती-आराधना के कर्त्ता दिगम्बर शिवार्य, तुषमाष-घोषक दिगम्बरमुनि शिवभूति, श्वेताम्बर-कल्पसूत्र की स्थविरावली में उल्लिखित शिवभूति तथा बोटिकसम्प्रदाय के संस्थापक शिवभूति, इन चारों को एक ही व्यक्ति बतलाया है। इसी प्रकार दिगम्बर भद्रबाहु-द्वितीय एवं दिगम्बर समन्तभद्र तथा श्वेताम्बर भद्रबाहु-द्वितीय एवं श्वेताम्बर सामन्तभद्र को भी एक ही व्यक्ति सिद्ध करने की चेष्टा की है। और मजे की बात यह है कि इस अभिन्नता के द्वारा श्वेताम्बरपरम्परा के शिवभूति एवं भद्रबाहु-द्वितीय आदि का दिगम्बरीकरण न कर, दिगम्बर शिवार्य (शिवभूति), दिगम्बर भद्रबाहु-द्वितीय और दिगम्बर समन्तभद्र का श्वेताम्बरीकरण किया है। क्योंकि प्रोफेसर सा० की मान्यता है कि उस समय दिगम्बरमत की उत्पत्ति ही नहीं हुई थी, उसका प्रवर्तन तो द्वितीय शताब्दी ई० में कुन्दकुन्द ने किया था। इस प्रकार वे शिवभूति और भद्रबाहु-द्वितीय को श्वेताम्बर और बोटिक दोनों मानते हैं, दिगम्बर किसी को भी नहीं मानते। यहाँ ध्यान देने योग्य है कि प्रोफेसर हीरालाल जी ने भी बोटिक-सम्प्रदाय को यापनीयसम्प्रदाय का पूर्वरूप माना है। प्रोफेसर सा० आगे बतलाते हैं कि श्वेताम्बर-बोटिक शिवभूति के शिष्य बने श्वेताम्बर भद्रबाहु-द्वितीय तथा श्वेताम्बर-बोटिक भद्रबाहु-द्वितीय के शिष्य हुए कुन्दकुन्द। शिवभूति के दूसरे शिष्य घोषनन्दी हुए और उनके शिष्य हुए उमास्वाति।

इस प्रकार प्रोफेसर सा० ने कुन्दकुन्द को आरम्भ में श्वेताम्बर और बोटिक दोनों माना है। किन्तु वे कहते हैं कि आगे चलकर कुन्दकुन्द ने सवस्त्रमुक्ति और स्त्रीमुक्ति का सर्वथा निषेध कर दिया और इस प्रकार दिगम्बरमत का प्रवर्तन किया। किन्तु उनके इस कठोरमार्ग के प्रवर्तन से असहमत तथा शिवभूति के आपवादिक सवस्त्रमुक्ति और स्त्रीमुक्ति के समर्थक मुनियों ने उमास्वाति के नेतृत्व में पृथक् यापनीयसंघ बना लिया। (अध्याय १०/प्र.८/शी.१)।

निरसन—प्रोफेसर सा० की यह उद्भावना सर्वथा असंगत है। उपर्युक्त चारों शिवभूति एक ही व्यक्ति नहीं हो सकते, क्योंकि उनके सम्प्रदाय, मान्यताएँ, स्थितिकाल और चरित्र अलग-अलग हैं। कल्पसूत्र की स्थविरावली में उल्लिखित शिवभूति श्वेताम्बर-परम्परा के हैं। पाँचवीं शती ई० में जब देवर्द्धिगणि-क्षमाश्रमण कल्पसूत्र को पुस्तकारूढ़ कर रहे थे, तब भी उन्होंने उक्त शिवभूति को श्वेताम्बर-स्थविरावली में स्थान दिया है। इससे सिद्ध है कि वे पाँचवी शताब्दी ई० तक श्वेताम्बराचार्य ही माने जाते थे और श्वेताम्बरों के लिए पूज्य थे, जब कि बोटिक-सम्प्रदाय-प्रवर्तक शिवभूति श्वेताम्बरसाहित्य के अनुसार प्रथम शताब्दी ई० में ही श्वेताम्बरसंघ छोड़कर बोटिक (दिगम्बर) मत का प्रवर्तक बन गया था। तथा इसके चरित्र का जो चित्रण श्वेताम्बरसाहित्य में किया गया है, वह अत्यन्त हीन है। **विशेषावश्यकभाष्य** आदि श्वेताम्बरग्रन्थों में उसे घोर मिथ्यादृष्टि, प्रभूततर-विसंवादी और परलिंगी कहा गया है। क्या इस शिवभूति का कल्पसूत्र की स्थविरावली में, मान्य श्वेताम्बराचार्य के रूप में उल्लेख हो सकता है? कदापि नहीं। अतः सिद्ध है कि कल्पसूत्र की स्थविरावली में निर्दिष्ट आर्य शिवभूति, बोटिक शिवभूति से सर्वथा भिन्न हैं।

इसके अतिरिक्त 'विशेषावश्यकभाष्य' में बोटिक शिवभूति के गुरु का नाम आर्यकृष्ण बतलाया गया है, किन्तु कल्पसूत्र की स्थविरावली में शिवभूति को पहले नमस्कार किया गया है और कृष्ण (कण्ह) को 'शिवभूति', 'कोसिय' तथा 'दुज्जत' के बाद। इससे सिद्ध है कि स्थविरावली-गत शिवभूति के गुरु आर्यकृष्ण नहीं हैं, अतः दोनों शिवभूति भिन्न-भिन्न हैं। 'भगवती-आराधना' के कर्त्ता शिवार्य ने भी अपने तीन गुरुओं के नाम का उल्लेख किया है : जिननन्दिगणी, सर्वगुप्तगणी और मित्रनन्दी। इनमें भी आर्यकृष्ण का नाम नहीं है। अतः शिवार्य भी उक्त दोनों शिवभूतियों से भिन्न सिद्ध होते हैं। फिर शिवार्य ने अपने को पाणितलभोजी कहा है और भगवती-आराधना में सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति, परतीर्थिकमुक्ति एवं केवलिभुक्ति आदि श्वेताम्बरीय मान्यताओं का निषेध किया है। ये भी इस बात के सबूत हैं कि शिवार्य कल्पसूत्र-स्थविरावली के शिवभूति से भिन्न हैं।

प्रो० हीरालाल जी ने कहा है कि शिवभूति के उत्तराधिकारी भद्रबाहु-द्वितीय हुए, किन्तु विशेषावश्यकभाष्य में बतलाया गया है कि शिवभूति की गुरु शिष्य-परम्परा कौण्डिन्य और कोट्टवीर नामक शिष्यों से चली। यहाँ भद्रबाहु के नाम का एक अक्षर भी नहीं है। यह साहित्यिक प्रमाण साक्षी है कि प्रोफेसर सा० का यह कथन भी कपोलकल्पित है। और जब यह असत्य सिद्ध हो जाता है कि भद्रबाहु-द्वितीय शिवभूति के शिष्य थे, तब प्रो० हीरालाल जी की बतलायी हुई सारी गुरुशिष्य-परम्परा बनावटी साबित हो जाती है। अतः यह उद्भावना भी मनगढ़न्त सिद्ध हो जाती

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

है कि कुन्दकुन्द भद्रबाहु-द्वितीय के शिष्य थे और उन्होंने आगे चलकर दिगम्बरमत चलाया। इसके फलस्वरूप यह कथन भी असंगत ठहरता है कि वे ईसा की द्वितीय शताब्दी में हुए थे।

एक व्यक्ति एक ही समय में श्वेताम्बर (अचेलमुक्ति का निषेधक), बोटिक (प्रो० हीरालाल जी की मान्यतानुसार अपवादरूप से सचेलमुक्ति का समर्थक) तथा दिगम्बर (सचेलमुक्ति का निषेधक), तीनों नहीं हो सकता। एक व्यक्ति एक ही समय में छद्मस्थ और केवलज्ञानी दोनों नहीं हो सकता। और एक व्यक्ति ईसापूर्व प्रथम शताब्दी से लेकर ईसोत्तर पाँचवीं शताब्दी तक जीवित नहीं रह सकता। किन्तु प्रो० हीरालाल जी ने इन अनहोनियों को होनी बनाने का अद्भुत कौशल दिखलाया है। कल्पसूत्र की स्थविरावली में उल्लिखित जिन शिवभूति को उन्होंने प्रथम शती ई० से पाँचवीं शती ई० तक श्वेताम्बर माना है, उन्हीं को प्रथम शती ई० में बोटिक भी मान लिया है, और उन्हीं को उसी शती में दिगम्बर भी मान लिया है, क्योंकि दिगम्बर कुन्दकुन्द ने उनकी प्रशंसा की है। और आचार्य कुन्दकुन्द ने इन शिवभूति को केवलज्ञान प्राप्त करनेवाला बतलाया है (भावपाहुड/गा.५३), किन्तु स्थविरावली-निर्दिष्ट शिवभूति तथा भगवती-आराधना के कर्त्ता शिवभूति केवलज्ञानी नहीं थे। फिर भी प्रोफेसर सा० ने इन सबको एक ही व्यक्ति मान लिया है। इस प्रकार एक ही व्यक्ति को एक ही समय में छद्मस्थ और केवली, दोनों बना दिया है। तथा 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' में प्रकाशित नन्दिसंघीय पट्टावली के अनुसार दिगम्बर-भद्रबाहु-द्वितीय ई० पू० ५३ में आचार्य पद पर आसीन हुए थे, जब कि श्वेताम्बर-भद्रबाहु-द्वितीय का अस्तित्वकाल पाँचवीं-छठी शताब्दी ई० है। इनको भी एक ही व्यक्ति मानकर एक मनुष्य को पञ्चमकाल में पाँच सौ वर्षों तक जीवित रहनेवाला सिद्ध कर दिया है। ऐसी घोर विसंगतियों से परिपूर्ण कपोलकल्पनाओं के द्वारा प्रोफेसर सा० ने कुन्दकुन्द को दिगम्बरमत का प्रवर्तक और द्वितीय शताब्दी ई० में उत्पन्न सिद्ध करने की चेष्टा की है। अतः उनका मत सर्वथा अप्रामाणिक और अग्राह्य है। (अध्याय १०/प्र. ८/शी.२.७)।

प्रो० हीरालाल जी जैन के शिवभूति, शिवार्य और शिवकुमार के एकत्वविषयक मत का खण्डन पं० परमानन्द जी जैन शास्त्री ने तथा श्वेताम्बर-भद्रबाहु-द्वितीय एवं स्वामी समन्तभद्र की अभेदविषयक मान्यता का निरसन न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जी जैन कोठिया ने अपने लेखों में अन्य अनेक प्रमाणों के द्वारा किया है। उक्त लेख प्रस्तुत ग्रन्थ में उद्धृत किये गये हैं। (अध्याय १०/प्र. ८/शी. २.९ एवं २.१०)।

१६. **ब्र० भूरामल जी** ने कुन्दकुन्द को श्रुतकेवली भद्रबाहु का और **पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार** ने भद्रबाहु-द्वितीय का प्रत्यक्ष शिष्य मानकर उनका समकालीन माना है,

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

जो अनेक कारणों से संगत नहीं है। पूर्वोद्धृत प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में हुए थे।

अध्याय ११—षट्खण्डागम

डॉ० सागरमल जी ने षट्खण्डागम को यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने के लिए जो हेतु प्रस्तुत किये हैं, वे यापनीयग्रन्थ के लक्षण (असाधारणधर्म) नहीं हैं, अतः उनसे वह यापनीयग्रन्थ सिद्ध नहीं होता। उनका प्रदर्शन और निरसन नीचे किया जा रहा है।

१. **हेतु**—षट्खण्डागम के उपदेशक आचार्य धरसेन का नाम दिगम्बरपट्टावलियों में नहीं मिलता। यह सूचित करता है कि धरसेन दिगम्बरपरम्परा से भिन्न किसी अन्य परम्परा के आचार्य थे।

निरसन—षट्खण्डागम के उपदेशक आचार्य धरसेन तथा कर्त्ताद्वय आचार्य पुष्पदन्त एवं भूतबलि के नाम दिगम्बरपट्टावली और दिगम्बरसाहित्य में अनेकत्र उपलब्ध हैं। दिगम्बरजैन-साहित्य में षट्खण्डागम के कर्ताओं के रूप में उनका उल्लेख है और षट्खण्डागम की रचना का इतिहास दिगम्बरजैनसाहित्य में वर्णित है। शौरसेनी प्राकृत में लिखित षट्खण्डागम की ताड़पत्रीय प्रतियाँ मूडबिद्री (कर्नाटक) के दिगम्बरमठ में उपलब्ध हुई हैं। दिगम्बराचार्यों ने उस पर टीकाएँ लिखी हैं। दिगम्बरजैन-परम्परा के तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थराजवार्तिक में उसका अनुसरण किया गया है। गोम्मटसार जैसा महान् ग्रन्थ षट्खण्डागम के ही आधार पर रचा गया है।

किन्तु श्वेताम्बर और यापनीय सम्प्रदायों की स्थविरावलियों और साहित्य में न तो षट्खण्डागम के उपदेशक एवं कर्त्ताओं (धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि) के नाम का उल्लेख है, न षट्खण्डागम का, न षट्खण्डागम की रचना के इतिहास का कोई विवरण है, न ही अर्धमागधी-प्राकृत में षट्खण्डागम की कोई प्रति उपलब्ध है।

२. **हेतु**—नन्दिसंघ की प्राकृतपट्टावली यापनीयसंघ की पट्टावली है। उसमें धरसेन के नाम का उल्लेख है। इससे सिद्ध होता है कि वे यापनीयसंघ से सम्बद्ध रहे हैं।

निरसन—'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' में प्रकाशित नन्दिसंघ की प्राकृतपट्टावली दिगम्बरपट्टावली ही है, क्योंकि उसमें नन्दिसंघ के साथ 'मूलसंघ' का उल्लेख है। यथा—"**श्रीमूलसङ्घप्रवरे नन्द्याम्नाये मनोहरे**" (श्लोक २ / The Indian Antiquary, vol. XX, p.344)। प्रथम शुभचन्द्रकृत नन्दिसंघ की गुर्वावली में भी कहा गया है कि मूलसंघ में नन्दिसंघ उत्पन्न हुआ—"**श्रीमूलसङ्घेऽजनि नन्दिसङ्घः।**" (श्लोक २)।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

मूलसंघीय नन्दिसंघ से भिन्नता दर्शाने के लिए यापनीय-नन्दिसंघ के साथ सर्वत्र 'यापनीय' शब्द का प्रयोग किया गया है, जैसे—"**यापनीयनन्दिसङ्घपुन्नागवृक्षमूलगणे** ---।" (कड़ब-लेख/क्र.१२४/अध्याय ११/प्र.३/शी.३)। आचार्य धरसेन का उल्लेख मूलसंघीय नन्दिसंघ की प्राकृत-पट्टावली में है। इससे सिद्ध है कि वे यापनीयसंघ से नहीं, अपितु मूलसंघ से सम्बद्ध थे।

३. **हेतु**—धरसेन ने अपने पुष्पदन्त और भूतबलि शिष्यों के लिए **जोणिपाहुड** ग्रन्थ की रचना की थी। इस ग्रन्थ का सर्वाधिक उल्लेख श्वेताम्बरसाहित्य में है और यह शौरसेनी में लिखित है, इसलिए सम्भावना है कि इसके उपदेशक धरसेन उत्तरभारत की अविभक्त सचेलाचेल निर्ग्रन्थपरम्परा अर्थात् श्वेताम्बरों और यापनीयों की समान मातृपरम्परा से सम्बद्ध रहे होंगे।

निरसन—इस परम्परा का अस्तित्व ही नहीं था तथा डॉ० सागरमल जी ने स्वयं षट्खण्डागम में गुणस्थानसिद्धान्त का प्ररूपण होने से इसके उपदेशक आचार्य धरसेन को ईसा की पाँचवीं शताब्दी में उत्पन्न मानकर अपने उक्त मत को कपोलकल्पित सिद्ध कर दिया है। तथा धरसेन के ५वीं शती ई० में उत्पन्न होने का मत भी अप्रामाणिक है, क्योंकि आचार्य कुन्दकुन्द ने षट्खण्डागम पर **परिकर्म** नामक टीका लिखी थी और वे ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में हुए थे, इससे सिद्ध है कि आचार्य धरसेन ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के पूर्वार्ध में विद्यमान थे और मूलसंघ अर्थात् निर्ग्रन्थ-महाश्रमणसंघ के आचार्य थे।

४. **हेतु**—धरसेन ने पुष्पदन्त और भूतबलि को **महाकर्मप्रकृति-प्राभृत** का उपदेश दिया था, जिसके आधार पर उन्होंने षट्खण्डागम की रचना की थी। महाकर्मप्रकृतिप्राभृत उत्तरभारत की अविभक्त-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा में निर्मित हुआ था, अतः धरसेन इसी परम्परा के आचार्य सिद्ध होते हैं।

निरसन—इस परम्परा का अस्तित्व ही नहीं था, अतः धरसेन का इस परम्परा का आचार्य होना असंभव है।

५. **हेतु**—षट्खण्डागम की अनेक गाथाएँ श्वेताम्बरग्रन्थों की गाथाओं से समानता रखती हैं। यह साम्य तभी हो सकता है, जब दोनों किसी समान पूर्वपरम्परा से सम्बद्ध हों। वह समान पूर्वपरम्परा उत्तरभारत की सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा थी, जिससे श्वेताम्बरों और यापनीयों की उत्पत्ति हुई थी। इससे सिद्ध होता है कि षट्खण्डागम यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ है।

निरसन—तथाकथित उत्तरभारत की सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा का अस्तित्व ही नहीं था, अतः उससे श्वेताम्बर और यापनीयों की उत्पत्ति असंभव थी। भगवान् महावीर

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

उल्लेख कल्पसूत्र की स्थविरावली में नहीं हैं, अतः षट्खण्डागम की रचना श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा के आचार्यों ने की है, यह मत अप्रामाणिक है। इसके अतिरिक्त उक्त परम्परा कपोलकल्पित है तथा डॉक्टर सागरमल जी ने ही षट्खण्डागम में गुणस्थानसिद्धान्त का प्रतिपादन होने से उसे ईसा की पाँचवीं शती का ग्रन्थ मानकर उपर्युक्त परम्परा में उसके रचे जाने का मत निरस्त कर दिया है, और इस प्रकार स्वयं ही स्वीकार कर लिया है कि उनकी कल्पनाएँ कितनी बेसिरपैर की हैं। उनका गुणस्थानविकासवाद भी कपोलकल्पित है, अतः इस आधार पर षट्खण्डागम को ईसा की पाँचवीं शताब्दी में रचित मानना भी अप्रामाणिक है। आचार्य कुन्दकुन्द ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में हुए थे और उन्होंने षट्खण्डागम पर 'परिकर्म' नामक टीका लिखी थी, यह इसका प्रमाण है कि षट्खण्डागम ईसापूर्व प्रथम शती के पूर्वार्ध का ग्रन्थ है और मूलसंघ के आचार्यों द्वारा रचा गया है।

८. **हेतु**—षट्खण्डागम में **मणुसिणी** (मनुष्यस्त्री) में संयत-गुणस्थान बतलाये गये हैं। मणुसिणी का अर्थ केवल द्रव्यस्त्री है। उसे जो भावस्त्री का भी बाचक माना गया है, वह गलत है। इससे सिद्ध होता है कि ग्रन्थ स्त्रीमुक्ति-समर्थक परम्परा का है। यापनीय भी स्त्रीमुक्ति समर्थक थे, अतः इसके कर्त्ता यापनीय ही होंगे।

निरसन—षट्खण्डागम को यापनीयपरम्परा का या तथाकथित श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा का ग्रन्थ सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किये गये उपर्युक्त सभी हेतु निरस्त हो जाते हैं, जिससे सिद्ध है कि वह न तो यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ है, न श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा का, अपितु दिगम्बरजैनपरम्परा का है। षट्खण्डागम में ऐसे अनेक सिद्धान्त हैं, जो यापनीयमत के विरुद्ध हैं, जिनका निरूपण आगे किया जा रहा है, उनसे भी यही सिद्ध होता है कि वह दिगम्बरजैनाचार्यों की कृति है। और दिगम्बरजैन-कर्मसिद्धान्त की भाषा में उस मनुष्य को भी भाववेद या भावलिंग की अपेक्षा 'स्त्री', 'मनुष्यिनी' या 'मानुषी' कहा गया है, जो द्रव्य (शरीर) से तो पुरुष होता है, किन्तु जिसमें पुरुषवेदनोकषाय का उदय न होकर स्त्रीवेदनोकषाय का उदय होता है। दिगम्बरमत में उसे भी मुक्ति का पात्र माना गया है, इसलिए उसमें चौदहों गुणस्थानों का होना बतलाया गया है। भट्ट अकलंकदेव के निम्नलिखित वचन इसमें प्रमाण हैं—

"**मानुषीषु पर्याप्तिकासु चतुर्दशापि गुणस्थानानि सन्ति भावलिङ्गापेक्षया, न द्रव्यलिङ्गापेक्षया। द्रव्यलिङ्गापेक्षया तु पञ्चाद्यानि।**" (तत्त्वार्थराजवार्तिक/९/७/११/पृ.६०५)।

अनुवाद—"पर्याप्तिका मानुषियों में चौदहों गुणस्थान होते हैं, किन्तु भावलिंग की अपेक्षा, न कि द्रव्यलिंग की अपेक्षा। द्रव्यलिंग की अपेक्षा तो आदि के पाँच ही होते हैं।"

इस वक्तव्य में भट्ट अकलंकदेव ने स्त्रीवेदनोकषाय के उदय से युक्त द्रव्यपुरुष को 'मानुषी' शब्द से अभिहित किया है। अतः दिगम्बर-जैन-कर्मसिद्धान्त की भाषा के अनुसार षट्खण्डागम में भावमनुष्यिनी में ही संयतगुणस्थान बतलाये गये हैं, द्रव्य-मनुष्यिनी में नहीं। इसलिए उसमें द्रव्यस्त्री की मुक्ति का प्रतिपादन मानना प्रमाणसंगत एवं न्यायसंगत नहीं है।

इस प्रकार षट्खण्डागम को यापनीयपरम्परा या उसकी मातृपरम्परा का ग्रन्थ सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किये गये उपर्युक्त सभी हेतु निरस्त हो जाते हैं। इतना ही नहीं, षट्खण्डागम में ऐसे अनेक सिद्धान्त उपलब्ध होते हैं, जो यापनीयमत के विरुद्ध हैं, अत एव इस बात के सबूत हैं कि वह दिगम्बरजैन परम्परा के अतिरिक्त यापनीयपरम्परा या अन्य किसी परम्परा का ग्रन्थ हो ही नहीं सकता। वे इस प्रकार हैं—

१. षट्खण्डागम की रचना यापनीय-सम्प्रदाय की उत्पत्ति से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व हो चुकी थी। षट्खण्डागम ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के पूर्वार्ध में रचा गया था और यापनीयसम्प्रदाय का जन्म ईसोत्तर पञ्चम शती के प्रारंभ में हुआ था।

२. षट्खण्डागम का गुणस्थानसिद्धान्त यापनीयसिद्धान्तों के सर्वथा विरुद्ध है। इससे निम्नलिखित यापनीय-मान्यताओं का निषेध होता है—मिथ्यादृष्टि की मुक्ति, परतीर्थिक मुक्ति, गृहस्थमुक्ति, शुभाशुभ क्रियाओं में प्रवृत्त लोगों की मुक्ति, सम्यग्दृष्टि की स्त्रीपर्याय में उत्पत्ति तथा स्त्री को तीर्थंकरपद की प्राप्ति।

३. षट्खण्डागम में तीर्थंकरप्रकृति-बन्धक सोलहकारणों की स्वीकृति यापनीय-मान्यता के विरुद्ध है, क्योंकि यापनीय श्वेताम्बर-आगमों को प्रमाण मानते थे, इसलिए उनके मत में बीस कारणों की मान्यता थी।

४. षट्खण्डागम में सवस्त्र स्थविरकल्प की अस्वीकृति यापनीयमत की अस्वीकृति है।

५. षट्खण्डागम में सोलह कल्पों ('कल्प' नामक स्वर्गों) की मान्यता यापनीय-मान्यता के विपरीत है। यापनीयमत में बारह कल्प माने गये हैं।

६. षट्खण्डागम में नौ 'अनुदिश' नामक स्वर्गों का उल्लेख यापनीयमत के विरुद्ध है। यापनीयमत में इनका अस्तित्व स्वीकार नहीं किया गया है।

७. षट्खण्डागम में भाववेदत्रय और वेदवैषम्य स्वीकार किये गये हैं, यापनीयमत में इनका निषेध है।

८. षट्खण्डागम में **मणुसिणी** शब्द का प्रयोग द्रव्यस्त्री और भावस्त्री, दोनों अर्थों में किया गया है। तदनुसार आदि के पाँच गुणस्थानों के प्रसंग में वह द्रव्यस्त्री और भावस्त्री दोनों का वाचक है, किन्तु शेष गुणस्थानों के प्रसंग में केवल भावस्त्री का। यापनीय-सम्प्रदाय के **स्त्रीनिर्वाणप्रकरण** में 'मनुष्यिनी' या 'मानुषी' शब्द का प्रयोग केवल द्रव्यस्त्री के अर्थ में किया गया है।

इस प्रकार यापनीयत्व-समर्थक हेतुओं की अनुपलब्धि एवं यापनीयत्व-विरोधी तथा दिगम्बरत्व-समर्थक हेतुओं की उपलब्धि से सिद्ध है कि षट्खण्डागम, न तो यापनीय सम्प्रदाय का ग्रन्थ है, न श्वेताम्बरसम्प्रदाय का और न दोनों की तथाकथित मातृपरम्परा का, अपितु एकान्त-अचेलमुक्तिवादी दिगम्बरजैन-परम्परा का ग्रन्थ है।

अध्याय १२–कसायपाहुड

श्वेताम्बर विद्वान् डॉ० सागरमल जी ने कसायपाहुड को पहले यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ माना था, पश्चात् स्वकल्पित उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थपरम्परा का ग्रन्थ मान लिया। उनके अुनसार यह परम्परा ईसा की पाँचवी शताब्दी के प्रथम चरण तक विद्यमान थी। इसी समय इसके विभाजन से श्वेताम्बर और यापनीय संघ उत्पन्न हुए और यह परम्परा समाप्त हो गई। श्वेताम्बर और यापनीय संघों की जननी होने से इसे उन्होंने श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा नाम दिया है। किन्तु आगे चलकर जब उन्होंने यह उद्भावना की, कि गुणस्थान-सिद्धान्त तत्त्वार्थसूत्र की रचना के बाद (उनके अनुसार ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी के बाद) विकसित हुआ है, तब उन्होंने उपर्युक्त मत बदल दिया, क्योंकि कसायपाहुड में गुणस्थानों के अनुसार जीव का प्ररूपण किया गया है। इस आधार पर उन्होंने यह मान लिया कि कसायपाहुड की रचना ईसा की पाँचवी-छठी शताब्दी में हुई थी। और चूँकि उस समय आचार्य गुणधर, आर्यमंक्षु और नागहस्ती का अस्तित्व नहीं था, इसलिए डॉक्टर सा० ने यह घोषित कर दिया कि इनमें से कोई भी कसायपाहुड का कर्त्ता नहीं हैं। फिर कर्त्ता कौन है, इसका निर्णय वे अन्त तक नहीं कर सके। तथापि इस पर उन्होंने यापनीयसम्प्रदाय की छाप लगा दी और इसके यापनीयग्रन्थ होने का मुख्य हेतु यह बतलाया कि इसमें स्त्री, पुरुष और नपुंसकों के अपगतवेदी होकर चतुर्दशगुणस्थान तक पहुँचने की बात कही गयी है, जो उसके स्त्रीमुक्तिसमर्थक होने का प्रमाण है। इस आधार पर वे इस ग्रन्थ को श्वेताम्बरपरम्परा का नहीं मान सकते थे, क्योंकि उनकी मान्यता है कि 'सभी श्वेताम्बरग्रन्थ अर्धमागधी प्राकृत में लिखे गये हैं।' किन्तु कसायपाहुड यापनीयपरम्परा का नहीं, अपितु दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ है, यह निम्नलिखित तथ्यों से सिद्ध होता है—

१. यापनीयमत में स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ये तीन पृथक्-पृथक् भाववेद स्वीकार नहीं किये गये हैं, एक वेदसामान्य ही स्वीकार किया गया है, जो स्त्री में स्त्रीवेद के रूप में, पुरुष में पुरुषवेद के रूप में और नपुंसक में नपुंसकवेद के रूप में परिणत हो जाता है। किन्तु, कसायपाहुड में तीनों भाववेदों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व माना गया है, अतः सिद्ध होता है कि वह यापनीयग्रन्थ नहीं, अपितु दिगम्बरग्रन्थ है।

२. श्वेताम्बर-आगमों में गुणस्थान-सिद्धान्त का अभाव है। यापनीयसम्प्रदाय श्वेताम्बर-आगमों को ही मानता था, अतः उसमें भी गुणस्थान-सिद्धान्त की मान्यता नहीं थी। इन दोनों सम्प्रदायों में वह मान्य हो भी नहीं सकता था, क्योंकि इनमें सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति, परतीर्थिकमुक्ति और केवलिभुक्ति मानी गयी है और गुणस्थानसिद्धान्त इन सबके विरुद्ध है। कसायपाहुड में गुणस्थान-सिद्धान्त का प्रतिपादन है, यह उसके यापनीयग्रन्थ न होने और दिगम्बरग्रन्थ होने का ज्वलन्त प्रमाण है।

३. अपगतवेदत्व गुणस्थानसिद्धान्त का ही अंग है और गुणस्थानसिद्धान्त दिगम्बरों का सिद्धान्त है, श्वेताम्बरों और यापनीयों का नहीं, अतः नौवें गुणस्थान के सवेदभाग से ऊपर जीव के अपगतवेद (भाववेदरहित) हो जाने का मत भी दिगम्बरमत है, श्वेताम्बरमत या यापनीयमत नहीं। अतः कसायपाहुड में अपगतवेदत्व की स्वीकृति से भी सिद्ध है कि वह दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ है, अन्य किसी परम्परा का नहीं।

नौवें गुणस्थान के सवेदभाग से ऊपर जीव के पुरुषवेद (पुरुषवेदनोकषाय), स्त्रीवेद (स्त्रीवेदनोकषाय) एवं नपुंसकवेद (नपुंसकवेदनोकषाय) के अपगत (उपशम या क्षय) हो जाने का मत एक विशिष्ट दिगम्बर-सिद्धान्त पर आधारित है। आगम का कथन है कि कर्मभूमि के गर्भज, संज्ञी-असंज्ञी, तिर्यंचों और मनुष्यों में कोई-कोई तिर्यंच और मनुष्य द्रव्य (शरीर) से पुरुष, स्त्री या नपुंसक होते हुए भी भाव से इसके विपरीत हो सकता है। अर्थात् जो शरीर से पुरुष है, उसमें पुरुषवेदनोकषाय का उदय न होकर स्त्रीवेदनोकषाय या नपुंसक-वेदनोकषाय का भी उदय हो सकता है, जिससे उसका भाव से स्त्री या नपुंसक होना भी संभव है। तथा जो शरीर से स्त्री या नपुंसक है, उसमें इससे विपरीत भाववेद का उदय होना संभव है। इसे वेदवैषम्य कहते हैं। अतः जो द्रव्य (शरीर) से पुरुष, किन्तु भाव से स्त्री या नपुंसक है, वह जीव भी मोक्ष प्राप्त कर सकता है, इसलिए नौवें गुणस्थान के सवेदभाग से ऊपर उसका भावस्त्रीवेद (स्त्रीवेदनोकषाय) या भावनपुंसकवेद (नपुंसकवेद नोकषाय) अपगत (उपशान्त या क्षीण) हो जाता है। इस प्रकार दिगम्बरजैनमत के अनुसार द्रव्यपुरुष ही अपगतवेद होता है, द्रव्यस्त्री और द्रव्यनपुंसक नहीं, क्योंकि वे पाँचवें गुणस्थान से ही ऊपर नहीं उठते, तब उनके नौवें गुणस्थान तक पहुँचने का प्रश्न ही नहीं उठता। जो कर्मभूमिज मनुष्य द्रव्य से पुरुष, किन्तु भाव से स्त्री है, उसे भी आगम में **मनुष्यिनी** या **मानुषी** अथवा

भावस्त्री या **भावमानुषी** शब्द से अभिहित किया गया है। इस प्रकार 'कसायपाहुड' में द्रव्यपुरुष की ही मुक्ति का कथन है, द्रव्यस्त्री या द्रव्यनपुंसक की मुक्ति का नहीं। अतः वह दिगम्बरपरम्परा का ही ग्रन्थ है, यापनीयपरम्परा का नहीं। (अध्याय १२/प्र. ३ / शी. १२ तथा अध्याय ११ / प्र.४ / शी. १०)।

४. श्वेताम्बर और यापनीय परम्पराओं में कोई भी ग्रन्थ शौरसेनी प्राकृत में नहीं रचा गया। श्वेताम्बरग्रन्थों की भाषा अर्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत है तथा यापनीयपरम्परा का प्राकृतभाषा में निबद्ध कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। उसके जो 'स्त्रीनिर्वाणप्रकरण' आदि तीन-चार ग्रन्थ उपलब्ध हैं, वे सभी संस्कृत में हैं। कुछ विद्वानों ने शौरसेनी में रचित 'भगवती-आराधना', 'मूलाचार' आदि ग्रन्थों को यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ बतलाया है, किन्तु वे सब दिगम्बरग्रन्थ हैं। 'कसायपाहुड' शौरसेनी में है, यह भी उसके दिगम्बरग्रन्थ होने का एक प्रमाण है।

५. कसायपाहुड की रचना ईसापूर्व द्वितीय शती के उत्तरार्ध में हुई थी, जब कि यापनीयसम्प्रदाय का उद्भव ईसोत्तर पंचम शती के प्रारम्भ में हुआ था। इस कारण भी कसायपाहुड यापनीयग्रन्थ नहीं हो सकता। डॉ० सागरमल जी ने जिस गुणस्थान-विकासवाद के आधार पर कसायपाहुड को छठी शती ई० की कृति माना है, वह सर्वथा कपोलकल्पित है, प्रमाणसिद्ध तथ्य नहीं। गुणस्थानसिद्धान्त जिनोपदिष्ट है, विकसित नहीं।

६. कसायपाहुड के कर्त्ता गुणधर और चूर्णिसूत्रकार यतिवृषभ के नाम श्वेताम्बर-यापनीय-स्थविरावलियों में नहीं मिलते।

७. श्वेताम्बर-यापनीय-साहित्य में गुणधर तथा उनके द्वारा कसायपाहुड की रचना, आर्यमंक्षु और नागहस्ती द्वारा आचार्यपरम्परा से उसके ज्ञान की प्राप्ति, तथा इन दोनों के चरणकमलों में बैठकर यतिवृषभ द्वारा कसायपाहुड के अर्थश्रवण एवं चूर्णिसूत्र लिखे जाने का कोई विवरण नहीं है, जब कि दिगम्बरसाहित्य में है।

८. दिगम्बरसाहित्य में अर्हद्बलि द्वारा गुणधर के नाम से एक गुणधरसंघ बनाये जाने का भी उल्लेख है।

९. जिन आर्यमंक्षु और नागहस्ती को आचार्यपरम्परा से कसायपाहुड की गाथाएँ प्राप्त होने का कथन जयधवलाकार ने किया है, वे श्वेताम्बर-स्थविरावलियों में निर्दिष्ट आर्यमंगु और नागहस्ती से भिन्न थे।

१०. यह ग्रन्थ, परम्परा से दिगम्बरजैन आम्नाय में ही प्राचीन दिगम्बर-आगम के रूप में मान्य और प्रचलित है, श्वेताम्बर और यापनीय सम्प्रदायों में नहीं।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

११. दिगम्बर-शास्त्रभण्डारों में ही यह आज तक सुरक्षित चला आ रहा है, श्वेताम्बर और यापनीय भण्डारों में इसका कभी अस्तित्व नहीं रहा।

१२. दिगम्बराचार्यों ने ही इस पर चूर्णिसूत्र और टीकाएँ लिखी हैं, श्वेताम्बर और यापनीय आचार्यों ने नहीं।

ये वे अन्तरंग और बहिरंग प्रमाण हैं, जो कसायपाहुड को दिगम्बरपरम्परा के अतिरिक्त और किसी भी परम्परा का ग्रन्थ सिद्ध नहीं करते।

श्वेताम्बर मुनि श्री हेमचन्द्रविजय जी ने कसायपाहुड और उसके चूर्णिसूत्रों को श्वेताम्बरीय ग्रन्थ सिद्ध करने का प्रयत्न किया था। उसका सप्रमाण खण्डन सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री ने एक लेख में किया था। उसे प्रस्तुत अध्याय में उद्धृत किया गया है। (अध्याय १२ / प्र.४)।

तृतीय खण्ड

भगवती-आराधना आदि सोलह ग्रन्थों की कर्तृपरम्परा

अध्याय १३—भगवती-आराधना

भगवती-आराधना दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ है। उसमें प्रतिपादित सिद्धान्तों से यापनीयों की आपवादिक सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति, परतीर्थिकमुक्ति, केवलिभुक्ति आदि मान्यताओं का निषेध होता है। तथापि दिगम्बर विद्वान् पं० नाथूराम जी प्रेमी ने उसे यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ बतलाया है। उनसे प्रभावित होकर और उनकी प्रेरणा पाकर श्वेताम्बर मुनि श्री कल्याणविजय जी, दिगम्बर विद्वान् प्रो० हीरालाल जी जैन, श्रीमती डॉ० कुसुम पटोरिया एवं श्वेताम्बर विद्वान् डॉ० सागरमल जी जैन ने भी आँख मींचकर उसे यापनीय ग्रन्थ मान लिया है। यापनीयग्रन्थ होने के पक्ष में जो हेतु पं० नाथूराम जी प्रेमी ने उपस्थित किये हैं, उन्हीं की इन सब विद्वानों ने पुनरावृत्ति की है। किन्तु, वे हेतु नहीं, हेत्वाभास हैं। उनका निरसन करनेवाले तथ्य नीचे प्रस्तुत हैं।

१. **हेतु**—भगवती-आराधना की गाथा ७९-८३ में मुनि के उत्सर्ग-अपवादमार्ग का विधान है, जिसके अनुसार मुनि वस्त्र धारण कर सकता है।

निरसन—यह प्रेमी जी की महाभ्रान्ति है। उक्त गाथाओं में मुनि के लिए अपवादमार्ग का विधान नहीं है, अपितु मुनि के अचेललिंग को **उत्सर्गलिंग** और श्रावक के सचेल-लिंग को **अपवादलिंग** संज्ञा दी गयी है। भगवती-आराधना में अपवादलिंग को १.सपरिग्रह और मुनिनिन्दा का कारणभूत, २. गृहस्थभाव का सूचक एवं ३. मुक्ति के लिए त्याज्य

बतलाया गया है तथा श्राविका के लिंग को भी अपवादलिंग कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि भगवती-आराधनाकार शिवार्य ने श्रावक-श्राविका के सचेललिंग को ही अपवादलिंग नाम दिया है, मुनि के लिंग को नहीं। अतः भगवती-आराधना में अपवादमार्ग के रूप में मुनि को वस्त्रधारण की अनुमति दी गयी है, यह धारणा महाभ्रान्ति है। (अध्याय १३/प्र.१/शी.१)।

भगवती-आराधना के कर्त्ता शिवार्य ने 'आचेलक्य' (नाग्न्य) को मुनि का अनिवार्य प्रथम धर्म बतलाया है और कहा है कि केवल वस्त्र त्यागने से जीव संयत (मुनि) नहीं होता, इसलिए **आचेलक्य** में समस्त परिग्रह का त्याग गर्भित है। इस कथन से मुनि के लिए अपवादलिंग के विधान का भ्रम पूर्णतः निरस्त हो जाता है।

२. **हेतु**—शिवार्य तथा उनके गुरुओं के नाम दिगम्बरपट्टावलियों या गुर्वावलियों में नहीं मिलते। अतः वे यापनीय होंगे, इसलिए उनके शिष्य शिवार्य भी यापनीय होंगे।

निरसन—वट्टकेर, यतिवृषभ, समन्तभद्र, स्वामिकुमार, जोइंदुदेव जैसे दिगम्बराचार्यों के नाम भी दिगम्बर-पट्टावलियों में नहीं मिलते, फिर भी वे यापनीय नहीं थे। इसलिए दिगम्बर-पट्टावलियों में नाम न होना यापनीय होने का हेतु नहीं है।

३. **हेतु**—यापनीय-आचार्य अपराजितसूरि द्वारा भगवती-आराधना की टीका की गई है, अतः वह यापनीयग्रन्थ है।

निरसन—अपराजितसूरि ने अपनी विजयोदयाटीका में सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति, परतीर्थिकमुक्ति और केवलिभुक्ति का निषेध करनेवाले सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, जिससे सिद्ध है कि वे यापनीय-आचार्य नहीं थे, अपितु दिगम्बराचार्य थे। अतः जिस भगवती-आराधना की उन्होंने टीका की है, वह भी दिगम्बरग्रन्थ है। (अध्याय १३/प्र.२/शी.४)।

४. **हेतु**—भगवती-आराधना की अनेक गाथाएँ श्वेताम्बरग्रन्थों की गाथाओं से मिलती हैं। श्वेताम्बरग्रन्थों की गाथाएँ यापनीय-आचार्य ही ग्रहण कर सकता है, अतः भगवती-आराधना यापनीयग्रन्थ है।

निरसन—भगवती-आराधना की जो गाथाएँ श्वेताम्बरग्रन्थों की गाथाओं से साम्य रखती हैं, वे उसमें श्वेताम्बरग्रन्थों से नहीं आयी हैं, बल्कि दिगम्बर-श्वेताम्बर-भेद के पूर्व जो अविभक्त अचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा थी, उससे आयी हैं। अतः भगवती-आराधना यापनीयग्रन्थ नहीं है।

५. **हेतु**—यापनीय-आचार्य शाकटायन ने शिवार्य के गुरु सर्वगुप्त का उल्लेख किया है। अतः सर्वगुप्त और शिवार्य, दोनों यापनीय थे।

निरसन—शिवार्य के गुरु सर्वगुप्त और शाकटायन द्वारा उल्लिखित सर्वगुप्त में एकत्व सिद्ध करनेवाला प्रमाण उपलब्ध नहीं है। स्वयं पं० नाथूराम जी प्रेमी ने अपने एक पूर्व लेख में लिखा है कि 'आर्य शिव (शिवार्य) के सर्वगुप्त नामक गुरु का नाम श्रवणबेलगोल के १०५ वें नम्बर के शिलालेख में (दिगम्बरपरम्परा के आचार्यों के साथ) मिलता है।' तथा शिवार्य ने भगवती-आराधना में यापनीयमत-विरुद्ध दिगम्बरीय सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। इन कारणों से उनका और उनके गुरु सर्वगुप्त का यापनीय होना संभव नहीं। (अध्याय १३/प्र.२/शी.२)।

६. **हेतु**—शिवार्य ने अपने लिए 'पाणितलभोजी' विशेषण का प्रयोग किया है। यह उनके यापनीय होने का सूचक है।

निरसन—दिगम्बरजैन साधु भी पाणितल में भोजन करते हैं। अतः 'पाणितल-भोजित्व' यापनीय साधुओं का असाधारणधर्म नहीं है।

७. **हेतु**—श्वेताम्बरसाहित्य में प्रसिद्ध मेतार्य मुनि की कथा भगवती-आराधना में मिलती है। श्वेताम्बरसाहित्य की कथा यापनीयग्रन्थ में ही आ सकती है।

निरसन—मेतार्य मुनि की कथा हरिषेणकृत बृहत्कथाकोश में भी मिलती है, जो दिगम्बरग्रन्थ है।

८. **हेतु**—भगवती-आराधना में क्षपक के लिए चार मुनियों द्वारा आहार लाये जाने का विधान दिगम्बरमत के विरुद्ध है।

निरसन—विरुद्ध नहीं है। प्राचीनकाल में वनों में विचरण करनेवाले दिगम्बरजैन मुनिसंघ में संस्तारारूढ़ क्षपक के लिए इसके अलावा कोई दूसरी व्यवस्था हो ही नहीं सकती थी। (अध्याय १३ / प्र.२ / शी.९)।

९. **हेतु**—अवमौदर्य-कष्ट को साम्यभाव से सहते हुए भद्रबाहु के समाधिमरण की कथा भगवती-आराधना को छोड़कर दिगम्बरसम्पद्राय के अन्य ग्रन्थों में नहीं मिलती। अतः भगवती-आराधना दिगम्बरसम्प्रदाय का ग्रन्थ नहीं है, यापनीयसम्प्रदाय का है।

निरसन—उक्त कथा हरिषेणकृत बृहत्कथाकोश में मिलती है, जो दिगम्बरसम्प्रदाय का ग्रन्थ है। (अध्याय १३/ प्र.२ / शी.१४)।

१०. **हेतु**—भगवती-आराधना में 'आचार', 'जीतशास्त्र' आदि श्वेताम्बरग्रन्थों का उल्लेख है।

निरसन—ये श्वेताम्बरग्रन्थों के नाम नहीं, अपितु क्षपक के 'चरण' (आचरण) और 'करण' (आवश्यक क्रियाओं) के वाचक शब्द हैं। (अध्याय १३ / प्र.२/ शी.१५)।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

११. **हेतु**—भगवती-आराधना में वर्णित मृत मुनि के शवसंस्कार की विजहना-विधि (शव को वन में छोड़ देना) दिगम्बरमत के प्रतिकूल है।

निरसन—वह दिगम्बरमत के सर्वथा अनुकूल है। प्राचीन काल में वनों में विहार करनेवाले आरम्भ-परिग्रह एवं हिंसादि पापों के त्यागी दिगम्बरजैन मुनियों के लिए इसके अलावा कोई उपाय ही नहीं था। (अध्याय १३ / प्र.२ / शी.१३)।

१२. **हेतु**—भगवती-आराधना की '**देसामासियसुत्तं**' गाथा १११७ में आये **तालपलंब-सुत्तम्मि** पद में **बृहत्कल्प** (श्वेताम्बरग्रन्थ) के सूत्र का उल्लेख होना उसे यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ सिद्ध करता है।

निरसन—तालपलंबसुत्त (तालप्रलम्बसूत्र) शब्द देशामर्शक (उपलक्षक = एकदेश के कथन द्वारा सर्व का बोध करानेवाले) शब्द का दृष्टान्त है। शिवार्य का कथन है कि जैसे 'तालप्रलम्ब' (ताड़वृक्ष की जटा) इस सूत्रात्मक (उपलक्षक) शब्द में 'ताल' शब्द केवल ताड़वृक्ष का बोधक नहीं है, अपितु सभी प्रकार की वनस्पतियों का उपलक्षक है, वैसे ही 'आचेलक्य' इस सूत्रात्मक शब्द में 'चेल' शब्द मात्र वस्त्र का वाचक नहीं है, बल्कि सभी प्रकार के परिग्रह का उपलक्षक है। इस प्रकार 'तालपलंबसुत्तम्मि' पद में 'सुत्त' शब्द से किसी अन्य सूत्र का उल्लेख नहीं किया गया है, अपितु 'तालपलंब' शब्द को ही देशामर्शक होने के कारण 'सूत्र' शब्द से अभिहित किया गया है। अतः भगवती-आराधना की उक्त गाथा में 'बृहत्कल्पसूत्र' के किसी सूत्र का उल्लेख नहीं है। दिगम्बराचार्य वीरसेन स्वामी ने भी धवलाटीका (ष.खं. / पु.१ / १,१,१ / पृ.९) के '**ण तालपलंबसुत्तं व देसामासियसुत्तादो**' इस वाक्य में **तालपलंबसुत्त** शब्द दृष्टान्त के रूप में प्रयुक्त किया है। अतः जैसे 'तालपलंबसुत्त' शब्द के प्रयोग से धवलाटीका यापनीयग्रन्थ सिद्ध नहीं होती, वैसे ही भगवती-आराधना भी यापनीयग्रन्थ सिद्ध नहीं होती।

१३. **हेतु**—भगवती-आराधना की 'आराधणापुरस्सर' गाथा (७५२) की विजयोदया-टीका में श्वेताम्बरग्रन्थ 'अनुयोगद्वारसूत्र' का उल्लेख है, अतः भगवती-आराधना यापनीयग्रन्थ है।

निरसन—वहाँ, 'अनुयोगद्वारसूत्र' शब्द नहीं हैं, अपितु 'अनुयोगद्वार' शब्द है, जो सत् संख्या, क्षेत्र आदि निरूपणद्वारों का वाचक है।

१४. **हेतु**—भगवती-आराधना की 'उत्तरगुणउज्जमणे' गाथा (११८) की विजयोदया टीका में 'पंचवदाणि जदीणं' इत्यादि आवश्यकसूत्र (श्वेताम्बरग्रन्थ) की गाथा उद्धृत की गयी है। अतः भगवती-आराधना यापनीयग्रन्थ है।

निरसन—टीका में श्वेताम्बरग्रन्थ का उल्लेख होने से मूलग्रन्थ यापनीयग्रन्थ सिद्ध नहीं होता।

१५. **हेतु**—भगवती-आराधना की 'अंगसुदे बहुविधे' गाथा (४९९) की टीका में श्रुत के 'आचारांगादि' भेदों का वर्णन किया गया है। ये नाम श्वेताम्बरपरम्परा के आगमों के हैं।

निरसन—श्रुतभेदों के ये नाम दिगम्बरपरम्परा में भी प्रसिद्ध हैं।

डॉ० सागरमल जी ने अपने ग्रन्थ 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' में उपर्युक्त हेतुओं के साथ निम्नलिखित दो हेतु और जोड़े हैं—

१६. **हेतु**—'शिवार्य' जैसे आर्यान्त तथा 'जिननन्दी' जैसे नन्द्यन्त नाम यापनीय-सम्प्रदाय में ही मिलते हैं।

निरसन—दिगम्बरसम्प्रदाय में भी मिलते हैं, जैसे-'सुधर्म' नाम के द्वितीय केवली का नाम 'लोहार्य' (लोहाचार्य) भी था। चार आचारांगधारियों में भी एक 'लोहार्य' नाम के आचारांगधारी थे। माघनन्दी, पद्मनन्दी (कुन्दकुन्द), देवनन्दी (पूज्यपादस्वामी) आदि नन्द्यन्त नाम भी अनेक मिलते हैं। (अध्याय १३/प्र.२/शी.३)।

१७. **हेतु**—भगवती-आराधना में श्वेताम्बर-प्रकीर्णक ग्रन्थों की अनेक गाथाएँ हैं, जो उसके यापनीयग्रन्थ होने का प्रमाण हैं।

निरसन—भगवती-आराधना का रचनाकाल ईसवी प्रथम शताब्दी का उत्तरार्ध है और श्वेताम्बर-प्रकीर्णक ग्रन्थों की रचना ११वीं शताब्दी ई० में हुई थी। अतः श्वेताम्बर-प्रकीर्णक ग्रन्थों में ही भगवती-आराधना की गाथाओं का पहुँचना सिद्ध होता है। इसलिए वह यापनीयग्रन्थ नहीं है। (अध्याय १३ / प्र.२/शी.७.२)।

इस प्रकार भगवती-आराधना के यापनीयग्रन्थ होने के पक्ष में प्रस्तुत किये गये सभी हेतु मिथ्या सिद्ध होते हैं। दूसरी ओर उसमें उसे दिगम्बरजैन-परम्परा का ग्रन्थ सिद्ध करनेवाले अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। यथा-

१. उसमें आपवादिक सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति, परतीर्थिकमुक्ति एवं केवलिभुक्ति का निषेध किया गया है।

क—आचेलक्य को मुनि का प्रथम अनिवार्य धर्म बतलाया गया है और वस्त्रपात्रादि समस्त परिग्रह के त्याग को 'आचेलक्य' कहा गया है।

ख—वस्त्रपात्रादि समस्त परिग्रह के त्याग से ही संयत-गुणस्थान की प्राप्ति बतलायी गयी है, जिससे सवस्त्रमुक्ति का निषेध होता है।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

ग—श्रावक के लिंग को अपवादलिंग नाम देते हुए कहा गया है कि वस्त्रादिपरिग्रह का त्याग करने पर ही वह मुक्ति का पात्र होता है। इस तरह सवस्त्रमुक्ति, गृहस्थमुक्ति एवं परतीर्थिकमुक्ति का निषेध किया गया है।

घ—वस्त्रादि समस्त परिग्रह के त्याग को संयत-गुणस्थान की प्राप्ति का उपाय तथा पुरुषशरीर को ही संयम का साधन प्ररूपित कर स्त्रीमुक्ति का निषेध किया गया है।

ङ—केवली भगवान् के वर्णन प्रसंग में केवल उनके विहार का वर्णन है, आहार-नीहार का नहीं। (भ.आ./गा.२०९४-२११६)।

२. वस्त्रपात्रादि को भी परिग्रह कहा गया है, जो यापनीयमत के विरुद्ध है, क्योंकि यापनीयमत में सवस्त्र-अपवादलिंगधारी स्थविरकल्पी साधुओं, गृहस्थों, परतीर्थिकों और स्त्रियों को भी मुक्ति का पात्र माना गया है।

३. वेदत्रय और वेदवैषम्य स्वीकार किय गये हैं, जो यापनीयों को अमान्य हैं।

४. बन्ध और मोक्ष की सम्पूर्ण व्यवस्था गुणस्थानाश्रित बतलायी गयी है। यह यापनीयमत में स्वीकृत गृहस्थमुक्ति, परतीर्थिकमुक्ति एवं द्रव्य-स्त्रीमुक्ति के विरुद्ध है।

५. मुनि के लिए दिगम्बरमत में मान्य मूलगुणों और उत्तरगुणों का विधान किया गया है।

६. लुञ्चन के द्वारा ही केशत्याग का नियम निर्धारित किया गया है। यापनीयमान्य श्वेताम्बर-आगमों में छुरे या कैंची से भी मुण्डन की अनुमति दी गयी है।

७. आहार में मद्य, मांस और मधु के ग्रहण का सर्वथा निषेध किया गया है, जब कि यापनीयमान्य श्वेताम्बर-आगमों में वे अपवादरूप से ग्राह्य माने गये हैं।

८. भगवती-आराधना में मुनियों के लिए अभिग्रह का विधान किया गया है। यापनीयमान्य श्वेताम्बर-आगमों में इसका अभाव है।

९. भगवती-आराधना में कुन्दकुन्द का अनुसरण किया गया है।

१०. इसकी सभी टीकाएँ दिगम्बरों द्वारा ही लिखी गयी हैं।

११. भगवती-आराधना को दिगम्बराचार्यों ने प्रमाणरूप में स्वीकार किया है और उसके कर्त्ता शिवार्य के प्रति आदरभाव व्यक्त किया है।

१२. भगवती-आराधना की रचना यापनीयसंघ की उत्पत्ति से चार सौ वर्ष पहले हो चुकी थी।

□ **एक दीर्घकालीन मिथ्या धारणा का निराकरण**—भगवती-आराधना के अध्याय में प्रसंगवश एक दीर्घकालीन मिथ्या धारणा का निराकरण किया गया है। प्रायः सभी विद्वानों, मुनियों एवं आर्यिकाओं की धारणा है कि भगवती-आराधना में भक्तप्रत्याख्यान (सल्लेखना में संस्तारूढ़ होने) के समय आर्यिकाओं और श्राविकाओं के लिए भी मुनि के समान नाग्न्यलिंग ग्रहण करने का विधान किया गया है। किन्तु यह धारणा भ्रान्तिपूर्ण है। उक्त अवसर पर उनके लिए स्त्रियों का उत्सर्गलिंग ग्राह्य बतलाया गया है, जो कि एक साड़ीरूप अल्पपरिग्रहात्मक प्ररूपित किया गया है। आर्यिकाओं का नित्यलिंग भी यही एकसाड़ीरूप उत्सर्गलिंग होता है और भक्तप्रत्याख्यानकाल में भी यही निर्धारित किया गया है। किन्तु श्राविकाओं के लिए योग्यता और परिस्थिति के अनुसार बहुवस्त्रात्मक अपवादलिंग का भी विधान है और आर्यिकावत् एकवस्त्रात्मक उत्सर्गलिंग का भी। इस प्रकार भक्तप्रत्याख्यानकाल में उनके लिए नाग्न्यलिंग का विधान कदापि नहीं है। (अध्याय १३ / प्र.३)।

अध्याय १४—अपराजितसूरि दिगम्बराचार्य

पं० नाथूराम जी प्रेमी ने भगवती-आराधना की विजयोदयाटीका के कर्त्ता अपराजित सूरि को भी यापनीयसंघी माना है। श्रीमती डॉ० कुसुम पटोरिया ने उनका अनुसरण किया है, साथ ही अपराजितसूरि को यापनीय-आचार्य सिद्ध करने के लिये कुछ नये हेतु भी जोड़े हैं। डॉ० सागरमल जी ने इन दोनों के पदचिह्नों पर चलते हुए हेतुओं में कुछ और वृद्धि की है। किन्तु ये सभी हेतु असत्य हैं। उनका निरसन करनेवाले प्रमाण इस प्रकार हैं—

१. **हेतु**—(प्रेमी जी)—अपराजितसूरि ने श्वेताम्बर-आगमों से उद्धरण देकर स्पष्ट किया है कि उनमें भी अचेलता को ही मुनि का लिंग बतलाया गया है, मात्र विशेष परिस्थितियों में वस्त्रग्रहण की अनुमति दी गयी है। इससे पं० नाथूराम जी प्रेमी ने यह निष्कर्ष निकाला है कि अपराजितसूरि श्वेताम्बर-आगमों को प्रमाण मानते हैं, इसलिए यापनीय-सम्प्रदाय के हैं।

निरसन—यदि अपराजितसूरि श्वेताम्बर-आगमों को प्रमाण मानते, तो उनमें जो सचेललिंग से मुक्ति का विधान किया गया है, उसका निषेध न करते। किन्तु उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

क—"**मुक्त्यर्थी च यतिर्न चेलं गृह्णाति मुक्तेरनुपायत्वात्**"= मुक्ति का इच्छुक मुनि वस्त्रग्रहण नहीं करता, क्योंकि वह मुक्ति का उपाय नहीं है। (वि.टी. / भ.आ. / गा. 'जिणपडिरूवं' ८४)।

ख—"**सकलपरिग्रहत्यागो मुक्तेर्मार्गो मया तु पातकेन वस्त्र-पात्रादिकः परिग्रहः परीषहभीरुणा गृहीत इत्यन्तःसन्तापो निन्दा**" = सकल परिग्रह का त्याग मुक्ति का मार्ग है, किन्तु मुझ पापी ने परीषहों के डर से वस्त्रपात्रादि परिग्रह ग्रहण किया है, इस प्रकार मन में पश्चात्ताप करने को निन्दा कहते हैं। (वि.टी./भ.आ./गा. 'अववादियलिंग' ८६)।

ग—"**नैव संयतो भवतीति वस्त्रमात्रत्यागेन शेषपरिग्रहसमन्वितः**" = मात्र वस्त्रत्याग करने से मनुष्य संयत (मुनि) नहीं होता, शेष परिग्रह का भी त्याग आवश्यक है। (वि.टी./भ.आ./गा.'ण य होदि संजदो' १११८)।

इन वचनों के द्वारा अपराजितसूरि ने श्वेताम्बर-आगमों में अनुमत सवस्त्रमुक्ति को उच्च स्वर में अमान्य किया है। इतना ही नहीं, उन्होंने भगवती-आराधना की 'आचेलक्कुद्देसिय' गाथा (४२३) की टीका में अचेलत्व को ही एकमात्र जिनोपदिष्ट मोक्षमार्ग सिद्ध करने के लिए श्वेताम्बरमान्य सचेलत्व पर जबरदस्त प्रहार किया है। उसमें ऐसे अठारह दोष बतलाये हैं, जो मोक्षविरोधी हैं। श्वेताम्बरग्रन्थों में सचेलत्व को मोक्षमार्ग सिद्ध करने के लिए जो-जो तर्क दिये गये हैं, उनमें से एक-एक को लेकर अपराजितसूरि ने उन्हें मोक्ष-विरोधी सिद्ध किया है। विशेषावश्यकभाष्य में सचेल-लिंग को मोक्ष का मार्ग कहा गया है, अपराजितसूरि ने उसे मोक्ष का अनुपाय सिद्ध किया है। विशेषावश्यकभाष्य में वस्त्रपात्रादि-परिग्रह को संयमोपकारी बतलाया गया है, अपराजितसूरि ने उसे संयम की शुद्धि में बाधक सिद्ध किया है। विशेषावश्यकभाष्य में वस्त्रपात्रादि परिग्रह के मूर्च्छाहेतुत्व का निषेध किया गया है, अपराजितसूरि ने उसे मूर्च्छा का हेतु प्रतिपादित किया है। विशेषावश्यकभाष्य में वस्त्रपात्रादि के कषायहेतुत्व को स्वीकार करते हुए भी उन्हें अग्रन्थ कहा गया है, अपराजितसूरि कहते हैं कि शरीर को वस्त्र से परिवेष्टित रखनेवाला यदि अपने को निर्ग्रन्थ कहे, तो अन्यमतावलम्बी भी निर्ग्रन्थ सिद्ध होंगे। विशेषावश्यकभाष्यकार कहते हैं कि नग्न रहने पर स्त्रियों के दर्शन से यदि लिंगोत्थान हो जाता है, तो वह लोगों की दृष्टि में आ जाने से लज्जा का कारण बन जाता है, अपराजितसूरि का कथन है कि वस्त्रधारण करने से मुनि को अपने कामविकार को छिपाने का अवसर मिल जाता है, जिससे वह निर्भय होकर मानसिक कामसेवन करता है। इसके विपरीत नग्न मुनि को इन्द्रियनिग्रह में उसी प्रकार अत्यन्त सावधान रहता पड़ता है, जैसे सर्पों से भरे वन में यात्रा करते हुए विद्यामन्त्रादि से रहित मनुष्य को। विशेषावश्यकभाष्य में कहा गया है कि तीर्थंकरों का अचेललिंग शिष्यों के लिए अनुकरणीय नहीं है, क्योंकि वे उसके योग्य नहीं होते। अपराजितसूरि कहते हैं कि तीर्थंकर मोक्ष के अभिलाषी थे और मोक्ष के उपाय को जानते थे, इसलिए उन्होंने जिस लिंग को धारण किया था, वही समस्त मोक्षार्थियों के लिए धारण करने

योग्य है। जैसे मेरु आदि पर्वतों पर विराजमान जिनप्रतिमाएँ अचेल होती हैं और तीर्थंकरों के मार्ग के अनुयायी गणधर अचेल होते हैं, वैसे ही उनके शिष्य भी उन्हीं की तरह अचेल होते हैं। (अध्याय १४ / प्र.२ / शी.२.५)।

अपराजितसूरि ने **आचारांग** के वचनों को भी सदोष और अयुक्तिमत् बतलाया है। 'आचेलक्कुद्देसिय' गाथा (४२३) की टीका में आचारांग का एक उद्धरण देकर शंका उठायी है कि सूत्र (आगम) में पात्र की प्रतिष्ठापना बतलायी गयी है, अतः संयम के लिए पात्र का ग्रहण किया जाना सिद्ध होता है। अपराजितसूरि ने इसका निरसन किया है। वे कहते हैं-"नहीं, अचेलता का अर्थ है परिग्रह का त्याग और पात्र परिग्रह है, अतः उसका भी त्याग सिद्ध ही है।" (वि.टी. / भ.आ. / गा.४२३ / पृ. ३२५)।

इसी प्रकार सूरि जी ने **भावना** (आचारांगसूत्र के २४ वें अध्ययन) का एक उद्धरण दिया है, जिसमें कहा गया है कि भगवान् महावीर ने एक वर्ष तक देवदूष्य वस्त्र धारण किया, उसके बाद अचेलक हो गये। उद्धरण देकर इस मत का भी निरसन किया है। वे कहते हैं-"**भावना** में जो यह कहा गया है कि भगवान् महावीर एक वर्ष तक वस्त्रधारी रहे, उसके बाद अचेलक हो गये, वह युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि इस विषय में अनेक मतभेद हैं।" (वि. टी. / भ. आ. / गा. ४२३ / पृ. ३२५)।

अपराजितसूरि के इन वचनों से सिद्ध है कि उन्हें श्वेताम्बर-आगमों का प्रामाण्य स्वीकार्य नहीं है। अतः 'वे श्वेताम्बर-आगमों को प्रमाण मानते थे,' इससे बड़ा मिथ्या कथन और कोई हो ही नहीं सकता।

अपराजितसूरि ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि श्वेताम्बर-आगमों में भी मुनि के लिए अचेलता का ही विधान है। अतः उनमें भिक्षु के लिए जो चेलधारण करने की अनुमति दी गयी है, उसके बारे में उनका कथन है कि वह कारणविशेष के होने पर ही दी गयी है, अर्थात् यदि नग्न रहने में लज्जा का अनुभव होता हो या पुरुषचिह्न विकृत हो अथवा शीतादिपरीषह असह्य हों, तो भिक्षु वस्त्र धारण कर सकता है। किन्तु, इन कारणों से धारण किये गये वस्त्रपात्रदि को उन्होंने परिग्रह ही माना है और उसे अन्ततः परित्याज्य बतलाया है। इसलिए श्वेताम्बरों ने जो यह मान लिया है कि आचारांगादि में कारणविशेष से वस्त्रपात्रादि-ग्रहण की अनुमति होने से वे त्याज्य नहीं हैं, उसका अपराजितसूरि ने निषेध किया है और उन्हें त्याज्य प्ररूपित किया है तथा इसी को (कारणविशेष से ग्रहण किये जानेवाले और मोक्ष के लिए त्याज्य माने जानेवाले वस्त्रपात्रादि के ग्रहण को) उन्होंने **कारणसापेक्ष-वस्त्रपात्रादि-ग्रहण** कहा है। यथा—

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

''पात्रप्रतिष्ठापना सूत्रेणोक्तेति संयमार्थं पात्रग्रहणं सिध्यतीति मन्यसे, नैव। अचेलता नाम परिग्रहत्यागः, पात्रं च परिग्रह इति तस्यापि त्यागः सिद्ध एवेति। तस्मात्कारणसापेक्षं वस्त्रपात्रग्रहणम्। यदुपकरणं गृह्यते कारणमपेक्ष्य तस्य ग्रहण-विधिः गृहीतस्य च परिहरणमवश्यं वक्तव्यम्। तस्माद्वस्त्रं पात्रं चार्थाधिकारमपेक्ष्य सूत्रेषु बहुषु यदुक्तं तत्कारणमपेक्ष्य निर्दिष्टमिति ग्राह्यम्।'' (वि.टी./भ.आ./गा.४२३/पृ. ३२५)।

अनुवाद—''यदि आप यह मानते हैं कि सूत्र के द्वारा पात्र की प्रतिष्ठापना कही गयी है, अतः संयम के लिए पात्रग्रहण सिद्ध होता है, तो यह अनुचित है। अचेलता का अर्थ है परिग्रह का त्याग और पात्र परिग्रह है, इसलिए उसका भी त्याग सिद्ध ही है। इसलिए वस्त्रपात्र का ग्रहण कारणसापेक्ष है। कारण-विशेष से जो उपकरण ग्रहण किया जाता है, उसके ग्रहण की विधि और ग्रहण किये गये उपकरण का त्याग अवश्य बतलाना चाहिए। इस तरह बहुत से सूत्रों (श्वेताम्बर-आगमों) में जो वस्त्र-पात्र का कथन किया गया है, वह कारणविशेष की अपेक्षा किया गया है।''

श्वेताम्बर-आगमों में मुनि के लिए अचेलता का ही उपदेश है, इसकी पुष्टि के लिए अपराजितसूरि ने श्वेताम्बरीय **उत्तराध्ययन** के परीषहसूत्रों को उद्धृत करते हुए कहा है—

''इह चाचेलताप्रसाधनपरं शीतदंशमशकतृणस्पर्शपरीषहसहनवचनं परीषहसूत्रेषु। न हि सचेलं शीतादयो बाधन्ते। इमानि च सूत्राणि अचेलतां दर्शयन्ति---।'' (वि.टी./भ.आ./गा. ४२३/पृ. ३२६)।

अनुवाद—''परीषहसूत्रों (उत्तराध्ययन) में जो शीत, डाँस-मच्छर, तृणस्पर्श आदि परीषहों के सहने का कथन है, वह सिद्ध करता है कि मुनि को अचेल रहने का ही उपदेश दिया गया है, क्योंकि सचेल को शीतादि की बाधाएँ नहीं होतीं। ये सूत्र भी अचेलता का ही समर्थन करते हैं---।''

श्वेताम्बर-आगमों के वचन उद्धृत कर इन व्याख्याओं के द्वारा उनमें ऐकान्तिक अचेलकधर्म के उपदेश की सिद्धि कोई यापनीय-आचार्य नहीं कर सकता, एक कट्टर दिगम्बराचार्य ही कर सकता है। और जो आचार्य, सचेलसाधु को संयत न माने और **'मुक्ति का इच्छुक यति चेल ग्रहण नहीं करता, क्योंकि वह मुक्ति का उपाय नहीं है'** ऐसी श्रद्धा रखे, क्या वह श्वेताम्बर-आगमों को प्रमाण माननेवाला कहा जा सकता है? कदापि नहीं। अतः सिद्ध है कि पं० नाथूराम जी प्रेमी ने अपराजितसूरि को जो श्वेताम्बर-आगमों को प्रमाण माननेवाला कहकर यापनीय घोषित किया है, वह बिलकुल मिथ्या है। अपराजितसूरि एक पक्के दिगम्बराचार्य थे।

२. **हेतु**—(प्रेमी जी)-अपराजितसूरि ने मुनि के लिए सचेल अपवादलिंग स्वीकार किया है, यह उनके यापनीय होने का लक्षण है।

निरसन—अपराजितसूरि ने श्वेताम्बर-आगमों में मुनि के लिए परिस्थितिविशेष में दी गई वस्त्रपात्रादिग्रहण की अनुमति को कारणसापेक्ष कहकर मुक्ति के लिए वस्त्र-पात्रादि को परित्याज्य बतलाया है और कहा है कि वस्त्र-पात्रधारी संयत नहीं होता, अचेल ही मुक्ति का पात्र होता है। इससे सिद्ध है कि उन्हें सचेल अपवादलिंग स्वीकार्य नहीं था।

३. **हेतु**—(प्रेमी जी)—अपराजितसूरि के यापनीय होने का सबसे स्पष्ट प्रमाण यह है कि उन्होंने श्वेताम्बरग्रन्थ **दशवैकालिकसूत्र** पर टीका लिखी थी और उसका भी नाम **विजयोदया** था।

निरसन—दिगम्बरपरम्परा में भी **दशवैकालिकसूत्र** था। भगवती-आराधना की विजयोदयाटीका में व्यक्त किये गये विचारों से सिद्ध है कि अपराजितसूरि पक्के दिगम्बर थे, अतः उन्होंने दिगम्बरीय दशवैकालिकसूत्र पर ही टीका लिखी होगी। वर्तमान में श्वेताम्बर-दिगम्बर-यापनीय किसी भी सम्प्रदाय के साहित्य में उक्त ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। (अध्याय १४/प्र.२/शी.५)।

४. **हेतु**—(प्रेमी जी)—अपराजितसूरि ने विजयोदयाटीका में अपने को चन्द्रनन्दी महाप्रकृत्याचार्य का प्रशिष्य कहा है। गङ्गवंशी पृथुवीकोङ्गणि महाराज के शक सं० ६९८ (वि० सं० ८३३) के दानपत्र में श्रीमूल-मूलगणाभिनन्दित नन्दिसंघ (यापनीय नन्दिसंघ) के चन्द्रनन्दी आचार्य का उल्लेख है। अपराजितसूरि इन्हीं के प्रशिष्य रहे होंगे। अतः वे यापनीय थे।

निरसन—अपराजितसूरि ने अपनी विजयोदयाटीका में यापनीयमत-विरोधी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, इससे सिद्ध है कि वे दिगम्बराचार्य थे। अतः जिन चन्द्रनन्दी के वे प्रशिष्य थे, उन्हें यापनीयसम्प्रदाय का चन्द्रनन्दी मानना प्रमाणबाधित है।

५. **हेतु**—(श्रीमती पटोरिया)—अरहन्त-अवर्णवाद के अवसर पर दिगम्बरग्रन्थों में केवलि-कवलाहार का उदाहरण दिया जाता है, वह विजयोदयाटीका में नहीं है। इस अनुल्लेख से वे यापनीय प्रतीत होते हैं।

निरसन—"**प्रमत्तसंयतस्य परीषहाकुलस्य भक्ष्यपानादिषु कांक्षा सम्भवति**"अर्थात् प्रमत्तसंयत-गुणस्थान में ही मुनि को क्षुधापरीषह और भक्तपान की आकांक्षा होती है। (वि.टी./भा.आ./गा. 'सम्मत्तादीचारा' ४३)। इस कथन से अपराजितसूरि ने केवलि-कवलाहार का निषेध किया है, इससे सिद्ध है कि वे दिगम्बराचार्य थे।

६. **हेतु**—(डॉ० सागरमल जी)—यापनीय-क्राणूरगण के जटासिंहनन्दी द्वारा रचित **वरांगचरित** से विजयोदयाटीका में कुछ श्लोक उद्धृत किये गये हैं, इससे सिद्ध होता है कि अपराजितसूरि भी यापनीय थे।

निरसन—क्राणूरगण दिगम्बरसंघ का गण था, यापनीयसंघ में कण्डूरगण था। अतः जटासिंहनन्दी दिगम्बर ही थे, इसलिए अपराजितसूरि भी दिगम्बर ही थे।

७. **हेतु**—(डॉ० सागरमल जी)—विजयोदयाटीका में रात्रिभोजन-त्याग को छठा व्रत कहा जाना यही प्रमाणित करता है कि वह यापनीय-कृति है।

निरसन—विजयोदयाटीका दिगम्बराचार्यकृत है तथा सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराज-वार्तिक आदि दिगम्बर-परम्परा के अन्य ग्रन्थों में भी रात्रिभोजनत्याग को छठे व्रत के रूप में वर्णित किया गया है। अतः विजयोदयाटीका यापनीयकृति नहीं है।

८. **हेतु**—(डॉ० सागरमल जी)—विजयोदयाटीका में श्वेताम्बरसाहित्य में वर्णित अथालन्दसंयम, जिनकल्प, परिहारसंयम, विजहना आदि का उल्लेख है, जिससे अपराजितसूरि के यापनीय होने की पुष्टि होती है।

निरसन-विजयोदयाटीका में दिगम्बरमान्य अथालन्दसंयमादि का वर्णन है, श्वेताम्बर-मान्य का नहीं, अतः अपराजितसूरि दिगम्बर ही हैं। (अध्याय १४ / प्र.२ / शी.८)।

९. **हेतु**—(डॉ० सागरमल जी)—विजयोदया में वर्णित भिक्षुप्रतिमाओं का उल्लेख किसी दिगम्बरग्रन्थ में नहीं है।

निरसन—अपराजितसूरि ने भगवती-आराधना (गा. 'सदि आउगे सदि' २५१) में वर्णित भिक्षुप्रतिमाओं की टीका मात्र की है, उनका अपनी तरफ से उल्लेख नहीं किया। तथा भगवती-आराधना दिगम्बरग्रन्थ ही है। अतः अपराजितसूरि यापनीय सिद्ध नहीं होते।

१०. **हेतु**—(डॉ० सागरमल जी)—विजयोदयाटीका में मुनि का सात घरों से भिक्षा लाने का वर्णन दिगम्बरमतानुकूल नहीं है।

निरसन—यदि एक घर में जाने पर भिक्षा प्राप्त न हो, तो दूसरे घर में जाना और दूसरे में प्राप्त न हो, तो तीसरे में जाना, इस प्रकार छह घरों में भिक्षा प्राप्त न होने पर सातवें घर में जाना, उससे आगे न जाना, ऐसे वृत्तिपरिसंख्यान तप का वर्णन विजयोदयाटीका में किया गया है। यह दिगम्बरमत के अनुकूल ही है।

११. **हेतु**—(डॉ० सागरमल जी)—विजयोदयाटीका में सद्वेद्य, सम्यक्त्व, हास्य, पुरुषवेद, शुभनाम, शुभगोत्र एवं शुभ-आयु को पुण्यप्रकृति कहा गया है। यह कथन

दिगम्बर और श्वेताम्बर साहित्यों में उपलब्ध नहीं है, केवल तत्त्वार्थाधिगमभाष्य में है, जिसकी आलोचना सिद्धसेनगणी ने की है। इससे फलित होता है कि अपराजितसूरि यापनीय थे।

निरसन—उक्त प्रकृतियों को धवला और जयधवला टीकाओं में पुण्यप्रकृति सिद्ध किया गया है, जो दिगम्बरग्रन्थ हैं। अतः विजयोदयाटीका में उन्हें पुण्यप्रकृति कहे जाने से अपराजितसूरि यापनीय सिद्ध नहीं होते। तथा जैसे तत्त्वार्थाधिगमभाष्य-कार उमास्वाति उन्हें पुण्यप्रकृति कहने से यापनीय नहीं कहला सकते, वैसे ही अपराजितसूरि भी नहीं कहला सकते। (अध्याय १४ / प्र.२ / शी.११)।

१२. **हेतु**—(श्रीमती पटोरिया)—विजयोदयाटीका में शुक्लध्यान के प्रथमभेद 'पृथक्त्व-वितर्क-सवीचार' ध्यान का अधिकारी 'उपशान्तमोह' नामक ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती को माना गया है, यह अपराजितसूरि के यापनीयमतावलम्बी होने का लक्षण है।

निरसन—प्रथम तो यापनीयमत में गुणस्थान-सिद्धान्त मान्य ही नहीं है, दूसरे दिगम्बराचार्य वीरसेनस्वामी ने भी उपशान्तमोह-गुणस्थान में ही प्रथम शुक्लध्यान होना माना है। (धवला / ष.खं. / पु.१३ / ५,४,२६ / पृ.७४,७८)। अतः इस मान्यता से यह सिद्ध नहीं होता कि अपराजितसूरि यापनीय थे।

इस प्रकार अपराजितसूरि को यापनीय-आचार्य सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किये गये सभी हेतु निरस्त हो जाते हैं। अब वे हेतु सामने रखे जा रहे हैं, जिनसे साबित होता है कि अपराजितसूरि पक्के दिगम्बर थे—

१. उन्होंने विजयोदयाटीका में ऐसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, जिनसे आपवादिक सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति, अन्यलिंगिमुक्ति और केवलिभुक्ति इन यापनीय-मान्यताओं का निषेध होता है।

२. टीका में कहा गया है कि सचेल अपवादलिंग मोक्ष का उपाय नहीं है। वह परिग्रहधारी गृहस्थों का लिंग है, अतः उसका अंगीकार मुनियों को निन्दा का पात्र बनाता है।

३. इसमें प्रतिपादित अपरिग्रहमहाव्रत का लक्षण यापनीय-मान्यताओं का विरोधी है।

४. इसमें विधान किया गया है कि अचेल को ही महाव्रत प्रदान किये जाने चाहिए।

५. इसमें अचेल को ही निर्ग्रन्थ कहा गया है।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

६. तीर्थंकरों का अचेललिंग ही मोक्ष का एकमात्र मार्ग तथा सभी मोक्षार्थियों के लिए नियम से ग्राह्य बतलाया गया है। यह यापनीयमत की सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति और अन्यलिंगिमुक्ति की मान्यताओं के विरुद्ध है।

७. पुरुषशरीर को ही संयम का साधन कहा गया है, जो यापनीयों की स्त्रीमुक्ति की मान्यता का विरोधी है।

८. वस्त्रादिपरिग्रह से युक्त मनुष्य को संयतगुणस्थान की प्राप्ति के अयोग्य निरूपित किया गया है। यह भी सवस्त्रमुक्ति आदि यापनीय-मान्यताओं के प्रतिकूल है।

९. क्षुधापरीषह और भोजन की आकांक्षा प्रमत्तसंयत-गुणस्थान तक ही बतलायी गयी है। इससे यापनीयों की केवलिभुक्ति की मान्यता का निषेध होता है।

१०. बन्ध और मोक्ष की सम्पूर्ण व्यवस्था गुणस्थान-केन्द्रित दर्शायी गयी है, जो यापनीयों की मोक्ष-व्यवस्था के विरुद्ध है।

११. साधुओं के मूलगुणों और उत्तरगुणों का वर्णन दिगम्बर-परम्परा के अनुरूप है।

१२. वेदत्रय और वेदवैषम्य स्वीकार किय गये हैं, जो यापनीयों को अस्वीकार्य हैं।

१३. साधु के लिए केशलुञ्च अनिवार्य बतलाया गया है। यापनीयमान्य श्वेताम्बर-कल्पसूत्र में छुरे-कैंची से भी मुण्डन कराने की छूट है।

१४. साधु के लिए आहार में मांस, मधु और मद्य के ग्रहण का कठोरतापूर्वक निषेध है। यापनीयमान्य श्वेताम्बर-आगमों में उन्हें अपवादरूप से ग्रहण करने की अनुमति दी गई है।

१५. विजयोदया में कालद्रव्य का अस्तित्व माना गया है। यह मान्यता यापनीयमान्य श्वेताम्बर-आगमों के विपरीत है।

१६. विजयोदया में वर्णित चार अनुयोगों के नाम दिगम्बरपरम्परा के अनुरूप एवं श्वेताम्बरपरम्परा के विरुद्ध हैं।

अध्याय १५—मूलाचार

मूलाचार को भी यापनीयसम्प्रदाय का ग्रन्थ माननेवाले पहले विद्वान् पं० नाथूराम जी प्रेमी हैं। फिर श्रीमती डॉ० पटोरिया ने उनकी बात आँख मींचकर मान ली। इन दोनों के विचारों से तो डॉ० सागरमल जी को अच्छा मसाला मिल गया और उन्होंने प्रेमी जी के ही हेतुओं को बढ़ा-चढ़ाकर मूलाचार के यापनीयग्रन्थ होने की जोरदार

वकालत की है, एक-दो नये हेतु भी ईजाद किये हैं। यहाँ सर्वप्रथम पं० नाथूराम जी प्रेमी द्वारा प्रस्तुत हेतुओं का प्रदर्शन एवं उनका निरसन करनेवाले प्रमाण उपस्थित किये जा रहे हैं—

१. **हेतु—मूलाचार** में मुनियों के लिए **विरत** और आर्यिकाओं के लिए **विरती** शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका अर्थ यह हुआ कि ग्रन्थकर्त्ता मुनियों और आर्यिकाओं को एक ही श्रेणी में रखते हैं। यह मूलाचार के यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ होने का लक्षण है।

निरसन—आचार्य कुन्दकुन्द ने भी मुनियों को **श्रमण** और आर्यिकाओं को **श्रमणी** शब्द से अभिहित किया है, और मूलाचार के टीकाकार आचार्य वसुनन्दी ने भी मुनियों के लिए **संयत** और आर्यिका के लिए **संयती** विशेषणों का प्रयोग किया है। ये 'श्रमणी' और 'संयती' शब्द 'विरती' के पर्यायवाची हैं। पर इससे यह सिद्ध नहीं होता कि ये दोनों आचार्य मुनियों और आर्यिकाओं को एक ही श्रेणी में रखते हैं, क्योंकि ये दोनों दिगम्बर हैं। अत: 'विरत' और 'विरती' शब्दों से अभिहित करना मुनियों और आर्यिकाओं को एक ही श्रेणी में रखने का प्रमाण नहीं है। (अध्याय १५/प्र.२/शी.१)। इसके अतिरिक्त मूलाचार में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि सोलहवें स्वर्ग से ऊपर निर्ग्रन्थलिंगधारी ही जन्म ले सकता है। यह स्त्रीमुक्तिनिषेध का दो-टूक प्रमाण है। अत: मूलाचार को यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ मानना प्रमाणविरुद्ध है। (अध्याय १५/प्र.१/शी.३)।

२. **हेतु**—चौथे सामाचार अधिकार (मूलाचार/गा. १८७) में कहा गया है कि अभी तक कहा हुआ यह **सामाचार** आर्यिकाओं के लिए भी यथायोग्य जानना। इसका अर्थ यह हुआ कि ग्रन्थकर्ता मुनियों और आर्यिकाओं को एक ही श्रेणी में रखते हैं।

निरसन—यथायोग्य शब्द के प्रयोग से स्पष्ट है कि ग्रन्थकार सामाचार के पालन में मुनि और आर्यिका की योग्यता को समान नहीं मानते। इसलिए सामाचार भी समानरूप से नहीं, अपितु योग्यतानुसार पालनीय बतलाया है। २८ मूलगुणों के पालन में भी उन्होंने समानता की अपेक्षा नहीं की है, क्योंकि आर्यिकाओं के लिए आचेलक्यादि संभव नहीं हैं। तथा उन्होंने सोलहवें स्वर्ग से ऊपर स्त्री के उपपाद का निषेध किया है। इससे सिद्ध है कि ग्रन्थकार मुनियों और आर्यिकाओं को एक ही श्रेणी में नहीं रखते। (अध्याय १५/प्र.२/शी.२)।

३. **हेतु**—१९६ वीं गाथा में कहा है कि इस प्रकार की चर्या जो मुनि और आर्यिकाएँ करती हैं, वे जगत्पूजा, कीर्ति और सुख प्राप्त करके सिद्ध होती हैं। यह स्त्रीशरीर से मुक्ति का प्रतिपादन है।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

६. तीर्थंकरों का अचेललिंग ही मोक्ष का एकमात्र मार्ग तथा सभी मोक्षार्थियों के लिए नियम से ग्राह्य बतलाया गया है। यह यापनीयमत की सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति और अन्यलिंगिमुक्ति की मान्यताओं के विरुद्ध है।

७. पुरुषशरीर को ही संयम का साधन कहा गया है, जो यापनीयों की स्त्रीमुक्ति की मान्यता का विरोधी है।

८. वस्त्रादिपरिग्रह से युक्त मनुष्य को संयतगुणस्थान की प्राप्ति के अयोग्य निरूपित किया गया है। यह भी सवस्त्रमुक्ति आदि यापनीय-मान्यताओं के प्रतिकूल है।

९. क्षुधापरीषह और भोजन की आकांक्षा प्रमत्तसंयत-गुणस्थान तक ही बतलायी गयी है। इससे यापनीयों की केवलिभुक्ति की मान्यता का निषेध होता है।

१०. बन्ध और मोक्ष की सम्पूर्ण व्यवस्था गुणस्थान-केन्द्रित दर्शायी गयी है, जो यापनीयों की मोक्ष-व्यवस्था के विरुद्ध है।

११. साधुओं के मूलगुणों और उत्तरगुणों का वर्णन दिगम्बर-परम्परा के अनुरूप है।

१२. वेदत्रय और वेदवैषम्य स्वीकार किय गये हैं, जो यापनीयों को अस्वीकार्य हैं।

१३. साधु के लिए केशलुञ्च अनिवार्य बतलाया गया है। यापनीयमान्य श्वेताम्बर-कल्पसूत्र में छुरे-कैंची से भी मुण्डन कराने की छूट है।

१४. साधु के लिए आहार में मांस, मधु और मद्य के ग्रहण का कठोरतापूर्वक निषेध है। यापनीयमान्य श्वेताम्बर-आगमों में उन्हें अपवादरूप से ग्रहण करने की अनुमति दी गई है।

१५. विजयोदया में कालद्रव्य का अस्तित्व माना गया है। यह मान्यता यापनीयमान्य श्वेताम्बर-आगमों के विपरीत है।

१६. विजयोदया में वर्णित चार अनुयोगों के नाम दिगम्बरपरम्परा के अनुरूप एवं श्वेताम्बरपरम्परा के विरुद्ध हैं।

अध्याय १५—मूलाचार

मूलाचार को भी यापनीयसम्प्रदाय का ग्रन्थ माननेवाले पहले विद्वान् पं० नाथूराम जी प्रेमी हैं। फिर श्रीमती डॉ० पटोरिया ने उनकी बात आँख मींचकर मान ली। इन दोनों के विचारों से तो डॉ० सागरमल जी को अच्छा मसाला मिल गया और उन्होंने प्रेमी जी के ही हेतुओं को बढ़ा-चढ़ाकर मूलाचार के यापनीयग्रन्थ होने की जोरदार

निरसन—उक्त गाथा में स्त्री के परम्परया मुक्त होने का अर्थात् स्त्रीशरीर से देवगति और देवगति से मनुष्यपर्याय में पुरुषशरीर पाकर मुक्त होने का कथन है, क्योंकि मूलाचार के कर्त्ता आचार्य वट्टकेर ने स्त्री के सोलहवें स्वर्ग से ऊपर उपपाद का निषेध किया है। (अध्याय १५/प्र.२/शी.३)।

४. **हेतु**—१८४ वीं गाथा में कहा गया है कि आर्यिकाओं का गणधर गम्भीर, दुर्धर्ष, अल्पकौतूहल, चिरप्रव्रजित और गृहीतार्थ होना चाहिए। इससे जान पड़ता है कि आर्यिकाएँ मुनिसंघ के ही अन्तर्गत हैं और उनका गणधर मुनि ही होता है।

निरसन—आर्यिकाओं के मुनिसंघ के अन्तर्गत होने से स्त्री का तद्भवमोक्ष सिद्ध नहीं होता।

५. **हेतु**—मूलाचार और भगवती-आराधना की पचासों गाथाएँ समान हैं। मूलाचार की अनेक गाथाएँ श्वेताम्बरग्रन्थों की गाथाओं से समानता रखती हैं। यह मूलाचार के यापनीयग्रन्थ होने का प्रमाण है।

निरसन—भगवती-आराधना दिगम्बरग्रन्थ है, अतः मूलाचार और भगवती-आराधना में गाथागत समानता से मूलाचार दिगम्बरग्रन्थ ही सिद्ध होता है। तथा जिन श्वेताम्बरग्रन्थों की गाथाओं का मूलाचारगत गाथाओं से साम्य है, वे मूलाचार से ही उनमें पहुँची हैं, क्योंकि मूलाचार की रचना उन श्वेताम्बरग्रन्थों से पूर्व हुई है। (अध्याय १५/प्र.२/शी.६)।

६. **हेतु**—मूलाचार की '**सेज्जोगासणिसेज्जा**' गाथा (३९१) में कहा गया है कि वैयावृत्य करनेवाला मुनि रुग्णमुनि का आहार, औषधि आदि से उपकार करे। यह दिगम्बरपरम्परा के विरुद्ध है।

निरसन—यह दिगम्बरपरम्परा के विरुद्ध नहीं है, इसका स्पष्टीकरण भगवती-आराधना के अध्याय में किया जा चुका है। (अध्याय १५ / प्र.२ / शी. ७)।

७. **हेतु**—मूलाचार की '**बावीसं तित्थयरा**' (५३५) एवं '**सपडिक्कमणो धम्मो**' (६२८) ये गाथाएँ भी दिगम्बरमत के विरुद्ध हैं।

निरसन—ये गाथाएँ भी दिगम्बरमत के विरुद्ध नहीं हैं। (अध्याय १५ / प्र.२ / शी.७)।

८. **हेतु**—मूलाचार की ३८७ वीं गाथा में आचार-जीत-कल्प ग्रन्थों का उल्लेख है, जो यापनीय और श्वेताम्बर परम्परा के हैं।

निरसन—मूलाचार की उक्त गाथा में ये ग्रन्थों के नाम नहीं हैं, अपितु मुनि

के आचार एवं **जीत** तथा **कल्प** नामक प्रायश्चित्तों के नाम हैं। (अध्याय १५ / प्र.२/ शी. ८)।

९. **हेतु**—मूलाचार (गा. २७७-७८-७९) में अस्वाध्यायकाल में पठनीय **आराधना-निर्युक्ति,** मरणविभक्ति आदि छह श्वेताम्बरग्रन्थों का उल्लेख है।

निरसन—अस्वाध्यायकाल में पठनीय ये सभी ग्रन्थ दिगम्बरग्रन्थ हैं, क्योंकि मूलाचार में सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति आदि यापनीय-मान्यताओं का निषेध करनेवाले सिद्धान्तों का प्रतिपादन है, अत: उसमें अस्वाध्याय- काल में दिगम्बरग्रन्थों को ही पढ़ने का उपदेश दिया जा सकता है। (अध्याय १५ / प्र.२ / शी.९)।

१०. **हेतु**—मूलाचार में श्वेताम्बरग्रन्थ **आवश्यकनिर्युक्ति** की लगभग ८० गाथाएँ मिलती हैं। इससे सूचित होता है कि उसकी रचना आवश्यकनिर्युक्ति के आधार पर हुई है।

निरसन—मूलाचार का रचनाकाल ईसा की प्रथम शताब्दी का उत्तरार्ध है और आवश्यकनिर्युक्ति की रचना छठी शती ई० (वि० सं० ५६२) में हुई थी। अत: मूलाचार की रचना आवश्यकनिर्युक्ति के आधार पर नहीं हो सकती। वस्तुत: वे गाथाएँ मूलाचार से आवश्यकनिर्युक्ति में पहुँची हैं।

११. **हेतु**—मूलाचार कुन्दकुन्दकृत तो है ही नहीं, उनकी विचारपरम्परा का भी नहीं हैं।

निरसन—निम्नलिखित प्रमाण इसे कुन्दकुन्द की परम्परा का सिद्ध करते हैं—

क—कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों में सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति और अन्यतीर्थिक-मुक्ति का घोर विरोध किया है। इन चारों की मुक्ति का विरोध मूलाचार में भी किया गया है।

ख—कुन्दकुन्द ने मुनि के जिन २८ मूलगुणों का उल्लेख किया है, उनका मूलाचार में भी ज्यों का त्यों वर्णन मिलता है।

ग—कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की अनेक गाथाएँ मूलाचार में मिलती हैं।

घ—कुन्दकुन्द की निरूपणशैली का प्रभाव भी मूलाचार के कर्त्ता पर दृष्टिगोचर होता है। (अध्याय १५ / प्र. २ / शी.११)।

१२. **हेतु**—डॉ० सागरमल जी का कथन है कि मूलाचार में स्त्रीदीक्षा का विधान है, जब कि कुन्दकुन्द ने स्त्रीप्रव्रज्या का निषेध किया है। अत: वह कुन्दकुन्द की परम्परा का ग्रन्थ न होकर यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ है।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

निरसन—मूलाचार में स्त्रियों के लिए सवस्त्र औपचारिक दीक्षा का विधान है। कुन्दकुन्द ने भी उनके लिए सवस्त्र दीक्षा देय बतलायी है। निर्वाणयोग्य पारमार्थिक नाग्न्यदीक्षा का निषेध कुन्दकुन्द और वट्टकेर दोनों ने किया है, क्योंकि स्त्रियों का निर्वाण संभव नहीं है। अतः मूलाचार कुन्दकुन्द की ही परम्परा का ग्रन्थ है।

इस तरह वे सभी हेतु निरस्त हो जाते हैं, जो पं० नाथूराम जी प्रेमी आदि विद्वानों ने मूलाचार को यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ सिद्ध करने के लिए उपस्थित किये हैं। अब वे प्रमाण दर्शनीय हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि मूलाचार दिगम्बरपरम्परा का ही ग्रन्थ है। वे इस प्रकार हैं—

१. जिस समय मूलाचार की रचना हुई थी, उस समय यापनीय-सम्प्रदाय का जन्म ही नहीं हुआ था। मूलाचार का रचनाकाल ईसा की प्रथम शती का उत्तरार्ध है, जब कि यापनीय-सम्प्रदाय का उदय पाँचवीं शती ई० के प्रारंभ में हुआ था।

२. मूलाचार में आपवादिक सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति और अन्यलिंगिमुक्ति का निषेध किया गया है, जब कि ये यापनीयपरम्परा के आधारभूत सिद्धान्त हैं।

३. मूलाचार में मुनि के २८ मूलगुणों और अनेक उत्तरगुणों का विधान है। यापनीयमत में ये दोनों प्रकार के गुण मान्य नहीं हैं।

४. मूलाचार में समस्त बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह को **परिग्रह** कहा गया है। यापनीयमत स्थविरकल्पियों (सवस्त्रमुनियों), स्त्रियों, गृहस्थों और अन्यलिंगियों की मुक्ति मानने से, न बाह्यपरिग्रह को परिग्रह मानता है, न आभ्यन्तर परिग्रह को।

५. मूलाचार में माना गया है कि मोक्षमार्गरूप रत्नत्रय का विकास गुणस्थानक्रम से होता है और पूर्णता चौदहवें गुणस्थान में होती है। यापनीयपरम्परा ऐसा नहीं मानती, क्योंकि उसमें मिथ्यादृष्टिगुणस्थान में स्थित अन्यलिंगी साधु भी मुक्ति का पात्र माना गया है।

६. मूलाचार में कल्प नामक स्वर्गों की संख्या सोलह बतलायी गयी है और नौ अनुदिश नामक स्वर्ग भी माने गये हैं, जब कि यापनीयमत के अनुसार कल्प बारह हैं और अनुदिश नामक स्वर्गों का अस्तित्व नहीं है।

७. मूलाचार में वेदत्रय स्वीकार किया गया है, जो यापनीयों को स्वीकार्य नहीं है।

८. मूलाचार में आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों से अनेक गाथाएँ ग्रहण की गयी हैं, मुनि के २८ मूलगुणों का भी प्रवचनसार से अनुकरण किया गया है, सवस्त्रमुक्ति एवं स्त्रीमुक्ति के निषेध तथा स्त्री की औपचारिक दीक्षा के प्रतिपादन के आधार

भी कुन्दकुन्द के ही ग्रन्थ हैं। मूलाचार में कुन्दकुन्द की निरूपणशैली भी अपनायी गयी है।

९. मूलाचार को पूज्यपाद, यतिवृषभ और वीरसेन जैसे दिगम्बराचार्यों ने प्रमाण माना है, जब कि वे यापनीयों को जैनाभास और उनके द्वारा प्रतिष्ठापित जिनप्रतिमाओं को भी अपूज्य मानते थे।

१०. मूलाचार पर दिगम्बर आचार्यों और पण्डितों ने ही टीकाएँ एवं भाषा-वचनिका लिखी हैं, किसी श्वेताम्बर या यापनीय आचार्य ने नहीं।

अध्याय १६—तत्त्वार्थसूत्र

दिगम्बरग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र को पं० सुखलाल जी संघवी आदि श्वेताम्बर विद्वानों ने श्वेताम्बरग्रन्थ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। किन्तु डॉ० सागरमल जी तत्त्वार्थसूत्र के कर्त्ता को, न तो दिगम्बर मानते हैं, न श्वेताम्बर, न यापनीय। वे उन्हें उस स्वबुद्धि-कल्पित उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा का मानते हैं, जिससे, उनके अनुसार, श्वेताम्बर और यापनीय सम्प्रदायों का जन्म हुआ था। दूसरी ओर पं० नाथूराम जी प्रेमी ने तत्त्वार्थसूत्र को यापनीय-परम्परा का ग्रन्थ बतलाया है।

पं० सुखलाल जी संघवी ने तत्त्वार्थसूत्र को श्वेताम्बर-ग्रन्थ सिद्ध करने के लिए जो हेतु विन्यस्त किये हैं, वे सब हेत्वाभास हैं। उनका निरसन करनेवाले प्रमाण नीचे द्रष्टव्य हैं-

क—सूत्रकार-भाष्यकार में सम्प्रदायभेद

१. **हेतु**—तत्त्वार्थसूत्र और उस पर लिखे गये भाष्य, दोनों के कर्त्ता उमास्वाति हैं। चूँकि भाष्य में मुनियों के लिए वस्त्रपात्रादि को संयम का साधन बतलाया गया है, इससे सिद्ध होता है कि सूत्रकार श्वेताम्बराचार्य थे।

निरसन—सूत्रकार और भाष्यकार भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के व्यक्ति थे। सूत्रकार दिगम्बर थे, भाष्यकार श्वेताम्बर। यह निम्नलिखित प्रमाणों से सिद्ध होता है—

१. सूत्रकार ने नाग्न्यलिंगरूप सुलिंगधारी (नाग्न्य-परीषहजयी) सम्यग्दृष्टि (जिनोपदेश-श्रद्धालु) को ही मुक्ति का पात्र बतलाया है (**सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः**—त.सू.१/१), जब कि भाष्यकार अन्यलिंगरूप कुलिंगधारी को भी मुक्ति का पात्र मानते हैं। (तत्त्वार्थाधिगमभाष्य/१०/७/पृ.४४८)।

२. सूत्रकार ने शीतादिपरीषहजय एवं नाग्न्यपरीषहजय को संवर-निर्जरा का हेतु कह कर सवस्त्रमुक्ति एवं गृहस्थमुक्ति का निषेध किया है, किन्तु भाष्यकार ने इनका प्रतिपादन किया है।

३. सूत्रकार ने "**बादरसाम्पराये सर्वे**" (त.सू./९/१२) सूत्र द्वारा छठे, सातवें, आठवें और नौवें गुणस्थानों में संभाव्य परीषहों का कथन किया है, और उनमें सभी परीषह बतलाये हैं। अतः उनके अनुसार इन गुणस्थानों में नाग्न्य-परीषह भी संभव है। इससे फलित होता है कि स्त्री छठे से लेकर नौवें तक किसी भी गुणस्थान में नहीं पहुँच सकती, क्योंकि उसके लिए वस्त्रत्याग असंभव होने से नाग्न्यपरीषह नहीं हो सकता। यह इस बात का सूचक है कि तत्त्वार्थसूत्रकार को स्त्रीमुक्ति मान्य नहीं है।

सूत्रकार ने '**शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः**' (त.सू./९/३७) सूत्र में आदि के दो शुक्ल-ध्यानों के लिए चतुर्दश पूर्वों का ज्ञान आवश्यक बतलाया है। वह श्वेताम्बरमतानुसार भी स्त्रियों को संभव नहीं है, जिससे निर्जरा भी असंभव है। इस तरह सूत्रकार ने स्त्रीमुक्ति का निषेध किया है। (अध्याय १६/प्र.१/शी.१.४)। किन्तु, भाष्यकार का कथन है कि स्त्री मुक्त भी हो सकती है और तीर्थंकरपद भी पा सकती है।

४. सूत्रकार ने मूर्च्छा को परिग्रह कहा है और मूर्च्छा का अर्थ है परद्रव्य की इच्छा और उसमें ममत्व। सूत्रकार ने संवर-निर्जरा के लिए शीत, उष्ण, दंश-मशक, नाग्न्य आदि परिषहों पर विजय आवश्यक बतलायी है, अतः परीषहों से डरकर उनसे बचने के लिए जो वस्त्रादि पदार्थों की इच्छा होती है और उन्हें ग्रहण किया जाता है वह सूत्रकार के अनुसार परिग्रह है। इसके विपरीत भाष्यकार मानते हैं कि साधु के द्वारा गृहीत वस्त्र आदि संयम के उपकरण हैं, परिग्रह नहीं। (अध्याय १६/प्र.१/शी.१.५)।

५. सूत्रकार ने दिगम्बरग्रन्थ षट्खण्डागम के अनुसार तीर्थंकरप्रकृति के बन्ध-हेतुओं की संख्या सोलह बतलायी है, जबकि श्वेताम्बर-आगम 'ज्ञाताधर्मकथांग' में बीस हेतु बताये गये हैं। अतः सूत्रकार दिगम्बरपरम्परा के हैं। किन्तु, भाष्यकार सवस्त्र-मुक्ति आदि के समर्थक होने से श्वेताम्बर हैं।

६. तत्त्वार्थसूत्र में केवली को क्षुधादि-परीषह होने का वर्णन तो है, किन्तु वे कवलाहार ग्रहण करते हैं, यह नहीं कहा गया है, जैसे षष्ठादि गुणस्थानों में पुरुषवेद का उदय होने पर भी यह उपेदश नहीं है कि मुनि कामसेवन करते हैं। उन्हें संयत ही कहा गया है। तथा आर्त्तध्यान की उत्पत्ति प्रमत्तसंयत गुणस्थान तक ही बतलायी गयी है, जिसका तात्पर्य यह है कि तेरहवें गुणस्थानवाले केवली को क्षुधादिजन्य वेदना

नहीं होती। इसके अतिरिक्त केवलज्ञान हो जाने पर क्षयोपशमजन्य भावेन्द्रियों का अभाव होने जाने से केवली को द्रव्येन्द्रियजन्य पीड़ा हो भी नहीं सकती है और घातिकर्म-चतुष्टय का क्षय हो जाने से केवली अनन्त आनन्द का अनुभव करते हैं, अतः उन्हें क्षुधादि की पीड़ा का अनुभव संभव ही नहीं है। फिर मोहनीयकर्म के उदय का अभाव हो जाने से असातावेदनीय का उदय असाता की अनुभूति कराने में समर्थ नहीं रहता। इसके अलावा कवलाहार ग्रहण न करने से केवली की अकालमृत्यु नहीं हो सकती, क्योंकि सूत्रकार ने चरमोत्तमदेहधारी को 'अनपवर्त्यायु' कहा है। आगम में नोकर्माहार की अपेक्षा सयोगकेवली को आहारक कहा गया है, कवलाहार की अपेक्षा नहीं। नोकर्माहार से ही उनका शरीर आयुपर्यन्त स्थित रहता है। चरमोत्तमदेहधारी का अनपवर्त्यायु होना नोकर्माहार से ही संभव है, कवलाहार से नहीं, क्योंकि कवलाहार के लिए इच्छा और प्रयत्न आवश्यक होते हैं, जिनका केवली में मोहनीयकर्म का क्षय हो जाने से अभाव हो जाता है। इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्रकार केवलिभुक्ति के निषेधक हैं, जबकि भाष्यकार समर्थक हैं। इससे तथा उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि दोनों के सम्प्रदाय भिन्न-भिन्न हैं। अर्थात् 'तत्त्वार्थसूत्र' दिगम्बराचार्य की कृति है और 'तत्त्वार्थाधिगमभाष्य' श्वेताम्बराचार्य की।

ख—सूत्र और भाष्य में विसंगतियाँ

इस सिद्धान्तभेद के अतिरिक्त सूत्र और भाष्य में जो विसंगतियाँ हैं, उनसे भी सिद्ध होता है कि सूत्रकार और भाष्यकार भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों से ताल्लुक रखते हैं। वे विसंगतियाँ इस प्रकार हैं—

१. दिगम्बर-तत्त्वार्थसूत्र में '**भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्**' (१/२१) तथा "**क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणम्**" (१/२२), इन दो सूत्रों में अवधिज्ञान के दो भेद बतलाये गये हैं : **भवप्रत्यय,** जो देव और नारकियों के होता है तथा **क्षयोपशम-निमित्त,** जो शेष जीवों अर्थात् मनुष्य और तिर्यंचों के होता है। इन सूत्रों के पूर्व '**द्विविधोऽवधिः**' (अवधिज्ञान के दो भेद हैं) यह प्रस्तावनात्मक सूत्र होना चाहिए था। यह सूत्र श्वेताम्बर-तत्त्वार्थसूत्र (१/२१) में है और उसके भाष्य में स्पष्ट किया गया है कि वे दो भेद हैं : भवप्रत्यय और क्षयोपशमनिमित्त—"**भवप्रत्ययः क्षयोपशम-निमित्तश्च**" (१/२१)। अगले सूत्र में **भवप्रत्यय अवधि** के स्वामियों का वर्णन किया गया है- "**भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्**" (१/२२)। यह सूत्र वैसा ही है, जैसा दिगम्बर-तत्त्वार्थसूत्र में है। इसके बाद **क्षयोपशमनिमित्त अवधि** के स्वामियों का वर्णन करने के लिए "**क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्**" ऐसा सूत्र होना चाहिए था, किन्तु "**यथोक्त-निमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्**" (१/२३) यह सूत्र है। यहाँ **यथोक्तनिमित्तः**

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

पद बिलकुल असंगत है, क्योंकि '**द्विविधोऽवधिः**' (१/२१) सूत्र के भाष्य में अवधिज्ञान का दूसरा भेद 'क्षयोपशमनिमित्त' बतलाया है, 'यथोक्तनिमित्त' नहीं। दिगम्बर-तत्त्वार्थसूत्र में "**क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषणाम्**" (१/२२) ही है। इससे सिद्ध होता है कि सूत्र में **क्षयोपशमनिमित्तः** के स्थान में **यथोक्तनिमित्तः** पहले ही किया जा चुका था, भाष्य उसके बाद लिखा गया। इसीलिए सूत्र के अर्थ को युक्तिसंगत बनाने के लिए भाष्यकार को लिखना पड़ा कि यहाँ 'यथोक्तनिमित्त' का अर्थ 'क्षयोपशमनिमित्त' है—'**यथोक्तनिमित्तः क्षयोपशमनिमित्त इत्यर्थः**' (१/२३)। यदि सूत्रकार ही भाष्यकार होते तो वे सूत्र में ही 'क्षयोपशमनिमित्त' शब्द का प्रयोग करते, जिससे भाष्य में स्पष्टीकरण की आवश्यकता न रहती। यह इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि सूत्रकार और भाष्यकार भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं।

२. '**इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः पञ्चचतुः पञ्चपञ्चविंशतिसङ्ख्याः पूर्वस्य भेदाः**' (त. सू./६/५), इस सूत्र के दिगम्बरमान्य और श्वेताम्बरमान्य पाठों में तथा सिद्धसेनगणी और हरिभद्रसूरि की टीकाओं में उद्धृतपाठों में **इन्द्रिय** शब्द पहले और **अव्रत** शब्द तीसरे स्थान पर है। किन्तु भाष्य में पहले **अव्रत** की व्याख्या की गयी है, उसके बाद **कषाय** की, फिर **इन्द्रिय** की। यह **सूत्रक्रमोल्लंघन नाम की असंगति है**। इससे सिद्ध होता है कि सूत्रकार और भाष्यकार भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। यदि भाष्य स्वोपज्ञ होता, तो इस क्रमोल्लंघन की विसंगति का प्रसंग न आता।

३."**इन्द्र-सामानिक-त्रायस्त्रिंश-पारिषद्यात्मरक्ष-लोकपालानीक-प्रकीर्णकाभियोग्य-किल्विशिकाश्चैकशः**" (त.सू./श्वे./४/४), इस सूत्र में प्रत्येक देवनिकाय में देवों के दश भेद बतलाये गये हैं। भाष्यकार भी पहले दश भेद ही कहते हैं। किन्तु, जब भेदों का वर्णन करते हैं, तब **अनीकाधिपति** भेद अतिरिक्त बतलाते हैं, जिससे ग्यारह भेद हो जाते हैं। इससे भी सूत्रकार और भाष्यकार की भिन्नता प्रकट होती है।

४."**सारस्वत्यादित्य-वह्न्यरुण-गर्दतोय-तुषिताव्याबाध-मरुतोऽरिष्टाश्च**" (त.सू./वि.स./४/२६), इस सूत्र में लौकान्तिक देवों के नौ भेद वर्णित किये गये हैं, किन्तु इस सूत्र और पूर्वसूत्र (४/२५) के भाष्य में नामनिर्देश न करते हुए आठ ही भेद होने की सूचना दी है—"**एते सारस्वतादयोऽष्टविधा देवा---।**" (४/२६)।

५. तत्त्वार्थसूत्र में **सम्यग्दर्शनी** से **सम्यग्दृष्टि** को भिन्न नहीं माना गया है, भाष्य (१/८) में माना गया है।

६. तत्त्वार्थसूत्र (१/१३) में मति, स्मृति और संज्ञा आदि मतिज्ञान के पर्यायवाची नाम बतलाये गये हैं, किन्तु भाष्य में इन्हें स्वतन्त्र ज्ञान माना गया है।

७. भाष्यकार ने दसवें अध्याय के '**क्षेत्रकालगति**' इत्यादि सूत्र की व्याख्या करते हुए **शब्दादयश्च त्रयः** कहकर शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत, इन तीन को मूल नय मान लिया है, जब कि वे ही प्रथम अध्याय में उस सूत्रपाठ को स्वीकार करते हैं, जिसमें मूल नयों में केवल एक शब्दनय स्वीकार किया गया है। यह परस्परविरुद्ध है और सूत्रकार के मत से भी भिन्नता प्रदर्शित करता है।

८. "**औपपादिकचरमोत्तमदेहासंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः**"(त.सू./२/५३), इस दिगम्बरमान्य सूत्रपाठ में **चरमोत्तमदेह** पद है। श्वेताम्बरमान्य सूत्रपाठ में इसके स्थान पर **चरमदेहोत्तमपुरुष** पाठ मिलता है। तत्त्वार्थभाष्यकार ने प्रारंभ में इस पद को मानकर ही उसकी व्याख्या की है। किन्तु बाद में वे 'उत्तमपुरुष' पद का त्याग कर देते हैं और मात्र **चरमदेह** पद को स्वीकर कर उसका उपसंहार करते हैं। इससे विदित होता है कि तत्त्वार्थभाष्यकार को इस सूत्र के कुछ हेरफेर के साथ दो पाठ मिले होंगे, जिनमें से एक पाठ को उन्होंने मुख्य मानकर उसका प्रथम व्याख्यान किया। किन्तु उसको स्वीकार करने पर जो आपत्ति आती है, उसे देखकर उपसंहार के समय उन्होंने दूसरे पाठ को स्वीकार कर लिया। स्पष्ट है कि इससे तत्त्वार्थभाष्यकार ही तत्त्वार्थसूत्रकार हैं, यह मान्यता मिथ्या सिद्ध होती है।

९. "**शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम्**" (त.सू./श्वे./५/१९) के भाष्य में कहा गया है—"**प्राणापानौ च नामकर्मणि व्याख्यातौ**" अर्थात् नामकर्म के प्रकरण में प्राण और अपान का व्याख्यान किया जा चुका है। किन्तु नामकर्म का प्रकरण आठवें अध्याय में है। अतः **व्याख्यातौ** यह भूतकालीन क्रिया असंगत है, **व्याख्यास्येते** होना चाहिए था। इससे यही सिद्ध होता है कि भाष्यकार ने सूत्रों की रचना नहीं की है।

१०. "**रत्नशर्कराबालुका**" (त.सू./श्वे./३/१) इत्यादि सूत्र में आये **घनाम्बुवाता-काशप्रतिष्ठाः** पद का अर्थ करते हुए भाष्यकार ने लिखा है "**अम्बुवाताकाशप्रतिष्ठा इति सिद्धे घनग्रहणं क्रियते तेनायमर्थः प्रतीयते** ---।" अर्थात् **अम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः** ऐसा सिद्ध होने पर जो **घन** शब्द का ग्रहण किया गया है, उससे ऐसा **प्रतीत होता है**---। यहाँ **प्रतीयते** शब्द निश्चयात्मक नहीं है, सन्देहात्मक है।--- यदि भाष्यकार ही सूत्रकार होते, तो अपने ही द्वारा प्रयुक्त **घन** शब्द के अर्थ के विषय में उनके मन में अनिश्चयात्मकता न रहती। इसलिए वे **प्रतीयते** क्रिया का प्रयोग न कर **ज्ञाप्यते** जैसी क्रिया का प्रयोग करते।

११. "**औदारिक-वैक्रियाहारक-तैजस-कार्मणानि शरीराणि**" (त.सू./ श्वे./२/३७), इस सूत्र में औदारिक आदि पाँच शरीरों के नाम गिनाये गये हैं। इसके भाष्य में भी पाँच शरीरों के केवल नाम ही बतलाये गये हैं, उनकी व्याख्या नहीं की गयी है। व्याख्या इसी अध्याय के "**शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं चतुर्दशपूर्वधरस्यैव**"

(त.सू./श्वे./२/४९) के भाष्य में की गई है, जो अप्रासंगिक है। इससे सूत्रकार और भाष्यकार का भिन्न होना सूचित होता है।

१२. "**कायवाङ्मनःकर्म योगः**" (६/१) तथा "**हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्**" (७/१), तत्त्वार्थसूत्र के इन सूत्रों में महाव्रतों को शुभास्रव का हेतु बतलाया गया है। भाष्य में भी इस बात की पुष्टि की गयी है। तथा संवरहेतुओं का वर्णन करनेवाले "**स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः**" (९/२) सूत्र में महाव्रतों को शामिल न करके भी यह द्योतित किया गया है कि महाव्रत शुभास्रव के हेतु हैं, संवर के नहीं। किन्तु भाष्यकार ने "**अनित्याशरणसंसारैकत्वा**" इत्यादि सूत्र (९/७) के भाष्य में महाव्रतों को संवर का हेतु बतलाया है। इससे भी सूत्रकार और भाष्यकार के भिन्न होने की पुष्टि होती है।

१३. तत्त्वार्थसूत्र के श्वेताम्बरमान्य पाठ में "**कालश्चेत्येके**" (५/३८) सूत्र से ध्वनित होता है कि सूत्रकार स्वयं कालद्रव्य को नहीं मानते। किन्तु भाष्यकार ने लोक को कहीं षड्द्रव्यात्मक माना है—'**सर्वं षट्त्वं षड्द्रव्यावरोधादिति**' (त.सू./श्वे./१/३५) और कहीं पञ्चास्तिकायों का समूह—"**पञ्चास्तिकायसमुदायो लोकः**" (त.सू./श्वे./३/६)। सूत्रकार और भाष्यकार के इस मतवैषम्य से सिद्ध है कि वे भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं।

१४. तत्त्वार्थसूत्रकार ने **बादरसम्पराये सर्वे** (त.सू./श्वे./९/१२) सूत्र का कथन कर छठे, सातवें, आठवें और नौवें गुणस्थानों के परीषहों का ज्ञापन किया है, किन्तु भाष्यकार ने उक्त सूत्र को केवल नौवें गुणस्थान में होनेवाले परीषहों का प्रतिपादक माना है। यह मतभेद दोनों के भिन्न व्यक्ति होने का सूचक है।

१५. "**सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः**" (त.सू./८/२) इस सूत्र में **कर्मयोग्यान्** इस अल्पाक्षरात्मक समस्त पद का प्रयोग न कर **कर्मणो योग्यान्** इस बह्वक्षरात्मक असमस्त पद का प्रयोग क्यों किया गया? इसका समाधान सर्वार्थसिद्धिकार ने किया है, भाष्यकार ने नहीं किया। (अध्याय १६/प्र.१/शी.३/३.१)। इससे सिद्ध होता है कि सूत्रों की रचना उन्होंने नहीं की। यदि सूत्ररचना उन्होंने की होती, तो **कर्मणो योग्यान्** प्रयोग का रहस्य उन्हें ज्ञात होता और उसका स्पष्टीकरण वे भाष्य में अवश्य करते।

ग—श्वेताम्बर भी भाष्यकार से अपरिचित

१. विक्रम की १३वीं शती के बाद हुए श्वेताम्बरमुनि श्री रत्नसिंहसूरि ने तत्त्वार्थाधिगमसूत्र पर टिप्पण लिखे हैं। उनमें उन्होंने भाष्यकार का नाम न देकर उसके

लिए **स कश्चित्** (वह कोई) शब्दों का प्रयोग किया है, जब कि सूत्रकार का नाम उमास्वाति कई स्थानों पर दिया है। इससे ध्वनित होता है कि टिप्पणकार को भाष्यकार का नाम मालूम नहीं था और वे उसे सूत्रकार से भिन्न समझते थे।

२. तत्त्वार्थाधिगमसूत्र की रत्नसिंहसूरिकृत टिप्पणों से युक्त प्रति में भाष्यमान्य तत्त्वार्थसूत्र की अपेक्षा कुछ अधिक सूत्र हैं, जिनमें से कुछ सूत्र तत्त्वार्थसूत्र के दिगम्बर-मान्य पाठ में मिलते हैं। इससे ज्ञात होता है कि उपर्युक्त अधिक सूत्रोंवाला सूत्रपाठ भाष्यमान्य सूत्रपाठ के पहले से ही अस्तित्व में रहा होगा, जो सिद्धसेनगणी आदि टीकाकारों की दृष्टि में नहीं आया। इसलिए उन्होंने उमास्वाति को ही सूत्रकार और भाष्यकार दोनों मान लिया।

घ—भाष्य से पूर्व भी तत्त्वार्थसूत्र पर टीकाएँ

१. तत्त्वार्थाधिगभाष्य में उपलब्ध उल्लेखों से सिद्ध होता है कि उसके पूर्व भी तत्त्वार्थसूत्र पर टीकाएँ लिखी गयी थीं। (अध्याय १६ / प्र.१ / शी.३.४)। यह तथ्य इस बात को असिद्ध कर देता है कि भाष्यकार ही सूत्रकार थे।

२. तत्त्वार्थसूत्र के काल में जितने भी सूत्रग्रन्थ रचे गये हैं, उनमें से किसी पर भी उसके रचयिता ने कोई भाष्य या वृत्ति नहीं रची। पातञ्जलसूत्र, वैशेषिकसूत्र, वेदान्तसूत्र आदि इसके उदाहरण हैं। इससे स्पष्ट होता है कि तत्त्वार्थसूत्रकार ने भी अपने ग्रन्थ पर कोई भाष्य नहीं रचा। (अध्याय १६ / प्र.१ / शी.५)।

३. तत्त्वार्थाधिगमभाष्य की प्रारंभिक कारिकाओं के अन्तर्गत २३वीं कारिका में जिनवचनरूपी महोदधि की महत्ता बतलाते हुए उसे **दुर्गमग्रन्थभाष्यपार** कहा गया है। टीकाकार श्री देवगुप्तसूरि ने इस पद का अर्थ इस प्रकार किया है—"उस जिनवचनरूपी महोदधि के ग्रन्थों और उन ग्रन्थों के अर्थ को बतलानेवाले जो उनके भाष्य हैं, उनका पार पाना कठिन है।" यहाँ तत्त्वार्थभाष्यकार ने आगमग्रन्थों के साथ उनके भाष्यों का भी उल्लेख किया है, अतः स्पष्ट है कि तत्त्वार्थाधिगमभाष्य की रचना भाष्यों के बाद में हुई है। भाष्यों का रचनाकाल विक्रम की ७वीं शती है। अतः तत्त्वार्थभाष्य सातवीं शती के पहले की रचना नहीं हो सकता। (अध्याय १६ / प्र.१ / शी.५)।

ये बहुसंख्यक प्रमाण इस निर्णय में कोई सन्देह नहीं रहने देते कि तत्त्वार्थसूत्र के कर्त्ता और उसके भाष्यकार एक व्यक्ति नहीं, अपितु भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं।

ङ—एकत्वसमर्थक हेतुओं का निरसन

श्वेताम्बर मनीषी पं० सुखलाल जी संघवी ने सूत्रकार और भाष्यकार को अभिन्न व्यक्ति सिद्ध करने के लिए जो हेतु विन्यस्त किये हैं, वे सब हेत्वाभास हैं। उनका निरसन करनेवाले प्रमाण आगे प्रस्तुत हैं–

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

१. **हेतु**—सिद्धसेनगणी ने 'तत्त्वार्थाधिगमभाष्य' की वृत्ति में सूत्रकार और भाष्यकार को अभिन्न बतलाया है।

निरसन—इस विषय में सिद्धसेनगणी की स्थिति संशयापन्न रही है, क्योंकि कहीं वे तत्वार्थसूत्रकार और तत्त्वार्थभाष्यकार को एक व्यक्ति मान लेते हैं और कहीं दो। (अध्याय १६ / प्र. १ / शी. ४.१)। तथा विक्रम की तेरहवीं शती के बाद हुए श्वेताम्बर मुनि श्री रत्नसिंहसूरि ने तत्त्वार्थसूत्रकार को उमास्वाति नाम से अभिहित किया है और भाष्यकार के नाम से अनभिज्ञता प्रकट की है। ये इस बात के सबूत हैं कि सूत्रकार और भाष्यकार एक व्यक्ति नहीं हैं।

२. **हेतु**—प्रारम्भिक कारिकाओं में और कुछ स्थानों पर भाष्य में भी **वक्ष्यामि, वक्ष्यामः** आदि उत्तमपुरुष की क्रिया का निर्देश है, और इस निर्देश में की गयी प्रतिज्ञा के अनुसार ही बाद में सूत्र में कथन किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि सूत्रकार और भाष्यकार एक ही व्यक्ति हैं।

निरसन—यह तो व्याख्या की शैली है। व्याख्याकार कहीं उत्तमपुरुष की क्रिया का प्रयोग कर व्याख्या करता है, जिससे ऐसा लगता है, जैसे मूलग्रन्थकार स्वयं अपने कथन की व्याख्या कर रहा हो, और कहीं मूलग्रन्थकार के साथ अन्यपुरुष की क्रिया जोड़कर व्याख्या करता है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि व्याख्याकार मूलग्रन्थकार के शब्दों की व्याख्या कर रहा है। प्रथम प्रकार की व्याख्याशैली के उदाहरण अनेक टीकाकारों की टीका में मिलते हैं, जैसे पूज्यपाद स्वामी सर्वार्थसिद्धि टीका में कहते हैं—"**तस्य स्वरूपमनवद्यमुत्तरत्र वक्ष्यामः**" = उस मोक्ष का निर्दोष स्वरूप आगे (दशम अध्याय के द्वितीय सूत्र में) कहेंगे। (स. सि. / अध्याय १ / मंगलाचरण / पृ.२)। यहाँ टीकाकार पूज्यपाद स्वामी ने अपने साथ उत्तमपुरुष की क्रिया का प्रयोग कर इस प्रकार कथन किया है, जैसे वे स्वयं सूत्रकार हों, जब कि वे सूत्रकार नहीं हैं। अतः 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' के भाष्यकर ने यदि अपने साथ उत्तमपुरुष की क्रिया का प्रयोग कर व्याख्या की है, तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वे स्वयं सूत्रकार हैं।

३. **हेतु**—भाष्य में किसी भी स्थल पर सूत्र का अर्थ करने में शब्दों की खींचतान नहीं हुई, कहीं सूत्र का अर्थ करने में सन्देह या विकल्प नहीं किया गया, न सूत्र की किसी दूसरी व्याख्या को मन में रखकर सूत्र का अर्थ किया गया और न कहीं सूत्र के पाठभेद का ही अवलम्बन लिया गया है। इसलिए सूत्रकार ही भाष्यकार हैं।

निरसन—प्रथम तो सूत्रों का अर्थ करने में शब्दों की खींचतान न होना, सन्देह या विकल्प न होना आदि बातें किसी व्याख्या के सूत्रकारकृत होने का प्रमाण नहीं हो सकतीं, क्योंकि **पातञ्जलसूत्र** के **व्यासकृत भाष्य** में भी उक्त बातें पायी जाती

हैं, किन्तु वह सूत्रकारकृत नहीं है। दूसरे, तत्त्वार्थसूत्र के उक्त भाष्य में भाष्यकार ने कोई छोटी-मोटी खींचतान नहीं की है, कोई मामूली सन्देह या विकल्प पैदा नहीं किये हैं, उन्होंने इतनी गम्भीर सैद्धान्तिक विपरीतताएँ और प्ररूपणशैली में इतनी ज्यादा विसंगतियाँ उत्पन्न की हैं कि उनके द्वारा वे अपने को सूत्रकार से बिलकुल विरुद्ध दिशा में खींचकर ले गये हैं और सिद्ध कर दिया है कि वे सूत्रकार से सर्वथा भिन्न व्यक्ति हैं। (अध्याय १६ / प्र.१ / शी. २ एवं ४.३)।

च—भाष्य सर्वार्थसिद्धि से उत्तरकालीन

श्वेताम्बर विद्वानों तथा दिगम्बर विद्वान् पं० नाथूराम जी प्रेमी का कथन है कि सर्वार्थसिद्धिटीका और तत्त्वार्थाधिगमभाष्य में अनेकत्र वाक्यगत साम्य है, जिससे सिद्ध होता है कि सर्वार्थसिद्धि में भाष्य का अनुकरण किया गया है, अतः भाष्य की रचना सर्वार्थसिद्धि से पूर्व हुई है। किन्तु यह मत समीचीन नहीं है। निम्नलिखित प्रमाण सिद्ध करते हैं कि सर्वार्थसिद्धि भाष्य से पूर्ववर्ती है, अतः भाष्य में ही सर्वार्थसिद्धि का अनुकरण हुआ है—

१. तत्त्वार्थाधिगमभाष्य के अन्त में दिये हुए ३२ श्लोक तत्त्वार्थराजवार्तिक, जयधवला-टीका एवं तत्त्वार्थसार में उपलब्ध होते हैं, किन्तु सर्वार्थसिद्धि में नहीं। तथा कालद्रव्य के परत्वापरत्वरूप उपकार का भाष्यकार द्वारा उल्लिखित **प्रशंसाकृत** भेद तत्त्वार्थराजवार्तिक में ग्रहण किया गया है, किन्तु सर्वार्थसिद्धि में नहीं। इसी प्रकार भाष्य-मान्य सूत्रपाठ और भाष्य में जो विसंगतियाँ हैं, न तो उनकी चर्चा सर्वार्थसिद्धि में की गयी है, न ही भाष्य में साधु के वस्त्रपात्रादि उपभोग का जो समर्थन किया गया है, उसका खण्डन सर्वार्थसिद्धि में मिलता है, जब कि तत्त्वार्थराजवार्तिक में ये दोनों बातें उपलब्ध होती हैं। इन तथ्यों से सिद्ध होता है कि सर्वार्थसिद्धिकार के समक्ष तत्त्वार्थाधिगमभाष्य उपस्थित नहीं था अर्थात् उस समय तक उसकी रचना नहीं हुई थी।

२. दूसरी ओर उपकरणरूप द्रव्येन्द्रिय के बाह्य और आभ्यन्तर भेद, प्रतरादिभेद से नारकियों की अवगाहना, अन्तरद्वीपों की ९६ संख्या, लौकान्तिक देवों के नौ के स्थान में आठ भेद तथा केवलज्ञानोपयोग और केवलदर्शनोपयोग के युगपत् होने का मत, ये सिद्धान्त भाष्य में सर्वार्थसिद्धि से आये हैं। (अध्याय १६/ प्र.२/ शी.३) "**श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम्**" (त.सू./१/२०) के भाष्य में **द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु** यह पाठ भी सर्वार्थसिद्धि (१ / २६) से ग्रहण किया गया है। ये तथ्य भी सिद्ध करते हैं कि भाष्य सर्वाथसिद्धि के पश्चात् रचा गया है। अतः सर्वार्थसिद्धि के पूर्व निर्मित तत्त्वार्थसूत्र का कर्त्ता और सर्वार्थसिद्धि के पश्चात् प्रणीत तत्त्वार्थाधिगमभाष्य का कर्त्ता, दोनों एक ही व्यक्ति नहीं हो सकते, इसलिए दोनों भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

निरसन—दिगम्बर-श्वेताम्बर-सम्प्रदायभेद तो जम्बूस्वामी के निर्वाण (४६५ ई० पू०) के बाद ही हो गया था, जब दोनों सम्प्रदायों की आचार्य-परम्परा अलग-अलग हो गयी थी। इस भेद का उल्लेख ईसापूर्वकालीन बौद्धसाहित्य में **निर्ग्रन्थ** और **श्वेतवस्त्र** नामों से हुआ है। अतः सिद्ध है कि सर्वार्थसिद्धि की तो क्या, तत्त्वार्थसूत्र की भी रचना दिगम्बर-श्वेताम्बर-सम्प्रदाय-भेद के बाद हुई है, तब तत्त्वार्थाधिगमभाष्य की रचना उक्त भेद के पूर्व हुई हो, यह तो संभव ही नहीं है। तत्त्वार्थसूत्र स्वयं दिगम्बरजैन-सिद्धान्तों का प्रतिपादक ग्रन्थ है, यह पूर्व में दर्शाया जा चुका है। इस प्रकार सर्वार्थसिद्धि और भाष्य दोनों ही सम्प्रदायभेद के बाद की कृतियाँ हैं, अतः सम्प्रदायभेद के आधार पर यह सिद्ध नहीं होता कि सर्वार्थसिद्धि भाष्य से उत्तरकालीन है।

□ डॉ० सागरमल जी ने पृष्ठसंख्या या पंक्तिसंख्या की न्यूनाधिकता के आधार पर अर्थ का विस्तार या अविस्तार माना है। वे लिखते हैं—"सर्वार्थसिद्धि के प्रथम अध्याय के ८वें सूत्र की व्याख्या में लगभग सत्तर पृष्ठों में गुणस्थान और मार्गणास्थान की चर्चा की गई है, जब कि तत्त्वार्थभाष्य में गुणस्थानसिद्धान्त का पूर्णतः अभाव है। उसमें प्रथम अध्याय के आठवें सूत्र की व्याख्या केवल दो पृष्ठों में समाप्त हो गई है। (जै. ध. या. स./पृ.३०३)।

निरसन—उक्त बात लिखते समय डॉक्टर सा० भूल गये कि दसवें अध्याय के '**क्षेत्रकालगतिलिङ्ग**' इत्यादि सूत्र (१०/७) की व्याख्या, जहाँ सर्वार्थसिद्धि में २५ पंक्तियों में की गयी है, वहाँ भाष्य में १४१ पंक्तियों का प्रयोग हुआ है। और ऐसे ३० सूत्र हैं, जिनकी व्याख्या सर्वार्थसिद्धि की अपेक्षा भाष्य में दुगुनी, चौगुनी, पचगुनी, और छहगुनी पंक्तियों में की गयी है, प्रथम अध्याय के ८ वें सूत्र के भाष्य में बहुत कम पंक्तियाँ प्रयुक्त हुई हैं, इसका कारण यह है कि भाष्यकार ने व्याख्या की ही नहीं है। अनेक सूत्रों में ऐसा हुआ है। जहाँ व्याख्या ही नहीं की गयी है, वहाँ व्याख्यागत विस्तार और अविस्तार का निर्णय किया ही नहीं जा सकता। जहाँ व्याख्या है, वहाँ भाष्य में अनेकत्र सर्वार्थसिद्धि की अपेक्षा अधिक पंक्तियों का प्रयोग हुआ है, अतः इस दृष्टि से भी भाष्य ही अर्वाचीन सिद्ध होता है। (अध्याय १६/प्र.२/शी.६)।

डॉक्टर सा० का यह कथन भी मिथ्या है कि भाष्य में गुणस्थानसिद्धान्त का पूर्णतः अभाव है। तत्त्वार्थसूत्र में जहाँ जिन गुणस्थानों का उल्लेख हुआ है, वहाँ भाष्य में भी उन गुणस्थानों के नाम वर्णित हैं। अतः गुणस्थानविकासवाद की मिथ्या धारणा के आधार पर भी सर्वार्थसिद्धि को तत्त्वार्थाधिगमभाष्य की अपेक्षा अर्वाचीन नहीं कहा जा सकता।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

□ सर्वार्थसिद्धि का रचनाकाल ४५० ई० निर्धारित किया गया है और तत्त्वार्थाधिगमभाष्य की रचना पाँचवीं शती ई० के उत्तरार्ध में वलभीवाचना के समय श्वेताम्बर-परम्परा में तत्त्वार्थसूत्र के लिपिबद्ध किये जाने के पश्चात् हुई है। और उसमें विशेषावश्यकभाष्य-मान्य **लोकरूढ़-नाग्न्य** या **उपचरित-नाग्न्य** का उल्लेख न होने से उसका रचनाकाल छठी शती ई० का पूर्वार्ध सिद्ध होता है। (अध्याय १६ / प्र.२ / शी.७)। इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि एवं तत्त्वार्थाधिगमभाष्य के रचनाकाल की पूर्वापरता से भी सिद्ध है कि सूत्रकार और भाष्यकार भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं।

□ तत्त्वार्थसूत्र के कर्त्ता का नाम गृध्रपिच्छाचार्य है और तत्त्वार्थाधिगमभाष्यकार का नाम उमास्वाति है। दिगम्बराचार्यों ने भ्रम से उमास्वाति को तत्त्वार्थसूत्र का कर्त्ता मान लिया और १६वीं शती ई० के श्रुतसागरसूरि ने 'तत्त्वार्थवृत्ति' में उमास्वाति के स्थान में 'उमास्वामी' शब्द का प्रयोग कर दिया। तब से उमास्वामी तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता कहलाने लगे। (अध्याय १६ / प्र.२ / शी.८)।

छ—सभी सूत्र दिगम्बरमत-सम्मत

श्वेताम्बर विद्वानों का कथन है कि तत्त्वार्थसूत्र के निम्नलिखित सूत्र दिगम्बरमत के विरुद्ध और श्वेताम्बरमत के अविरुद्ध हैं—

१. दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः (४/३)।

२. एकादश जिने (९/११)।

३. मूर्च्छा परिग्रहः (७/१७)।

४. पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः (९/४६)।

५. कालश्चेत्येके। (तत्त्वार्थाधिगमभाष्य-मान्य पाठ ५/३८)।

यतः ये सूत्र दिगम्बरमत के विरुद्ध और श्वेताम्बरमत के अविरुद्ध हैं, अतः तत्त्वार्थसूत्र दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ न होकर श्वेताम्बरपरम्परा का है। (जै.ध.या.स./ पृ. ३११-३१६)।

निरसन—यह कथन सत्य नहीं है। उक्त सभी सूत्र दिगम्बरमत-सम्मत हैं। "**मूर्च्छा परिग्रहः**" और "**एकादश जिने**" सूत्रों के दिगम्बरमत-सम्मत होने की सिद्धि पूर्व में की जा चुकी है। दिगम्बरमत में कल्पसंज्ञक स्वर्गों की संख्या बारह भी मानी गयी है और सोलह भी। इसलिए "**दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः**" (४/३) यह सूत्र दिगम्बरमतानुकूल है। पुलाक, बकुश आदि मुनियों का स्वरूप भी दिगम्बर मान्यताओं के विरुद्ध नहीं है। तथा "**कालश्चेत्येके**" (कुछ लोग काल को भी द्रव्य

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

मानते हैं) यह सूत्र तत्त्वार्थसूत्र का मौलिक सूत्र नहीं है। तत्त्वार्थसूत्र में "**वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य**" (त. सू. / श्वे. ५ / २२) तथा "**सोऽनन्तसमयः**" (त. सू. / श्वे. / ५ / ३९) इन सूत्रों के द्वारा कालद्रव्य के उपकार तथा अनन्तसमय रूप पर्यायें बतलायी गयी हैं, जिससे सिद्ध है कि तत्त्वार्थसूत्रकार को कालद्रव्य की स्वतंत्र सत्ता मान्य है। अतः "**कालश्च**" (त. सू. / दि. / ५ / ३९) सूत्र ही तत्त्वार्थसूत्र का मौलिक सूत्र है। (अध्याय १६ / प्र.३ / शी. १-३)।

ज—केवली का दर्शनज्ञानयौगपद्य दिगम्बरमान्य

पं० सुखलाल जी संघवी का एक तर्क यह है कि तत्त्वार्थाधिगमभाष्य (१/३१) में केवली भगवान् के दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग का युगपत् होना माना गया है, जो दिगम्बरग्रन्थों में दिखाई नहीं देता। इसलिए तत्त्वार्थसूत्र दिगम्बरग्रन्थ नहीं है।

निरसन—सर्वार्थसिद्धि (२/९) तथा कुन्दकुन्दाचार्यकृत **नियमसार** (गा.१६०) में स्पष्ट शब्दों में उपर्युक्त यौगपद्य स्वीकार किया गया है। वह श्वेताम्बर-आगमों में मान्य नहीं है, अतः भाष्यकार ने सर्वार्थसिद्धि से ही उसे ग्रहण किया है। (अध्याय १६/ प्र.३/शी.४)।

इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र को दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ असिद्ध करने के लिए माननीय संघवी जी एवं डॉ० सागरमल जी ने जितने भी तर्क उपस्थित किये हैं, वे सब निरस्त हो जाते हैं, और सिद्ध होता है कि वह दिगम्बरपरम्परा का ही ग्रन्थ है।

झ—तत्त्वार्थसूत्र की रचना के आधार दिगम्बरग्रन्थ

श्वेताम्बर मुनियों एवं विद्वानों का कथन है कि तत्त्वार्थसूत्र की रचना श्वेताम्बर-आगमों के आधार पर हुई है, अतः वह श्वेताम्बरग्रन्थ है।

निरसन—श्वेताम्बरमुनि उपाध्याय श्री आत्माराम जी ने **तत्त्वार्थसूत्र-जैनागमसमन्वय** नामक ग्रन्थ में श्वेताम्बर-आगमों से उन कथनों को उद्धृत किया है, जिनके आधार पर उनके अनुसार **तत्त्वार्थ** के सूत्रों की रचना हुई है। किन्तु **तत्त्वार्थ** के अधिकांश सूत्रों की उनके साथ न तो शब्दगत समानता है, न अर्थगत और न रचनागत। ये समानताएँ दिगम्बरग्रन्थों के सूत्रों और गाथाओं के साथ हैं। इस कारण **तत्त्वार्थ** के सूत्रों की रचना के आधार दिगम्बरग्रन्थ हैं, इसलिए वह दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ है। (अध्याय १६ / प्र.४)।

ञ—तत्त्वार्थसूत्र का रचनाकाल : द्वितीय शती ई० का पूर्वार्ध

पं० सुखलाल जी संघवी ने 'सर्वार्थसिद्धि' का रचनाकाल विक्रम की पाँचवीं-छठीं शताब्दी स्वीकार कर तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति के समय की उत्तरसीमा उससे

दो सौ वर्ष पहले अर्थात् विक्रम की तीसरी-चौथी शताब्दी निश्चित की है। (त.सू./वि.स./प्रस्ता./पृ.७-८)।

किन्तु, आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों की रचना ईसापूर्व प्रथम शती के अन्तिम चरण तथा ईसोत्तर प्रथम शती के प्रथम चरण में की थी, और प्रथम शती ई० के तृतीय चरण में भगवती-आराधना एवं चतुर्थ चरण में मूलाचार की रचना हुई थी, जिनमें कुन्दकुन्द के ग्रन्थों से अनेक गाथाएँ ग्रहण की गई हैं। तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' में प्रकाशित नन्दिसंघ की पट्टावली में तथा श्रवणबेलगोल के शिलालेखों में आचार्य कुन्दकुन्द के शिष्य बतलाये गये हैं और उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र की रचना आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों, भगवती-आराधना तथा मूलाचार के आधार पर की है, जिससे उनका स्थितिकाल ईसा की द्वितीय शताब्दी का पूर्वार्ध फलित होता है। (अध्याय १०/प्र.१/शी.४)।

□ त.सू. के उ.भा. सचेला. निर्ग्रन्थ सम्प्र. का ग्रन्थ न होने के प्रमाण

डॉ० सागरमल जी ने एक नई उद्भावना यह की है कि तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य के कर्त्ता उमास्वाति न दिगम्बर थे, न श्वेताम्बर, न यापनीय, अपितु वे सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, केवलिभुक्ति आदि की मान्यताओंवाले उस उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय के आचार्य थे, जो उक्त तीनों सम्प्रदायों से पूर्ववर्ती था और ईसा की पाँचवीं शताब्दी के प्रारंभ में जिसके विभाजन से श्वेताम्बर और यापनीय सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई थी। इसलिए ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी में रचित तत्त्वार्थसूत्र और उसका भाष्य उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय की कृतियाँ हैं।

निरसन

१. उत्तरभारतीय - सचेलाचेल - निर्ग्रन्थ - सम्प्रदाय का अस्तित्व ही नहीं था, यह द्वितीय अध्याय के तृतीय प्रकरण में सिद्ध किया गया है। अतः जिस सम्प्रदाय का अस्तित्व ही नहीं था, उमास्वाति उस सम्प्रदाय के आचार्य नहीं हो सकते। इससे सिद्ध है कि तत्त्वार्थसूत्र का श्वेताम्बरमान्य पाठ और उसका भाष्य उक्त सम्प्रदाय की कृतियाँ नहीं हैं।

२. ईसापूर्व छठी शताब्दी के बुद्धवचनसंग्रहभूत बौद्धग्रन्थ **अंगुत्तरनिकाय** में, प्रथमशताब्दी ई० के बौद्धग्रन्थ **दिव्यावदान** में तथा ईसापूर्व तृतीय शताब्दी के सम्राट् अशोक के देहली (टोपरा) के सप्तम स्तम्भलेख में **निर्ग्रन्थ** शब्द से दिगम्बर जैन मुनियों का उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार अशोककालीन या ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के बौद्धग्रन्थ **अपदान** में **सेतवत्थ** (श्वेतवस्त्र = श्वेतपट) शब्द से श्वेताम्बरजैन साधुओं की चर्चा की गई है। (देखिये, अध्याय ४/प्र.२/शी.१.१, १.२ तथा १४)। इन ऐतिहासिक

प्रमाणों से सिद्ध होता है कि दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों का अस्तित्व ईसापूर्व-काल में भी था, अतः तत्त्वार्थसूत्र के श्वेताम्बरमान्य पाठ एवं उसके भाष्य के कर्त्ता उमास्वाति श्वेताम्बर ही थे।

□ तत्त्वार्थसूत्र के यापनीयग्रन्थ न होने के प्रमाण

दिगम्बर विद्वान् पं० नाथूराम जी प्रेमी ने माना है कि तत्त्वार्थसूत्र और भाष्य दोनों के कर्त्ता उमास्वाति हैं। और ऐसा मानते हुए उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि तत्त्वार्थसूत्र यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ है। किन्तु इसके समर्थन में उन्होंने जो हेतु प्रदर्शित किये हैं, वे यथार्थ से परे हैं। अतः उनसे यह सिद्ध नहीं होता कि तत्त्वार्थसूत्र यापनीयग्रन्थ है। यथा—

१. **हेतु**—श्वेताम्बर-तत्त्वार्थसूत्र के अष्टम अध्याय के अन्तिमसूत्र में पुरुषवेद, हास्य, रति और सम्यक्त्वमोहनीय को पुण्यप्रकृति बतलाया गया है, अतः तत्त्वार्थसूत्र यापनीयग्रन्थ है। (अध्याय १६/प्र.६)।

निरसन—पक्के दिगम्बराचार्य अपराजितसूरि ने भी दिगम्बरग्रन्थ भगवती-आराधना की '**अणुकंपासुद्धुवओगो**' गाथा (१८२८) की विजयोदयाटीका में तथा दिगम्बराचार्य वीरसेन स्वामी ने धवला तथा जयधवला टीकाओं में उपर्युक्त चार को पुण्य प्रकृति कहा है। अतः जैसे ये यापनीयग्रन्थ सिद्ध नहीं होते, वैसे ही तत्त्वार्थसूत्र भी सिद्ध नहीं होता। (अध्याय १४/प्र.२/शी.११)।

२. **हेतु**—भाष्य (७/३) में पाँच व्रतों की जो पाँच-पाँच भावनाएँ बतलायी गयी हैं, उनमें अचौर्यव्रत की भावनाएँ भगवती-आराधना के अनुसार हैं, सर्वार्थसिद्धि के अनुसार नहीं। इससे भी मालूम होता है कि भाष्यकार और भगवती-आराधना के कर्त्ता, दोनों यापनीय हैं।

निरसन—भगवती-आराधना दिगम्बरग्रन्थ है, यह सिद्ध किया जा चुका है। अतः भाष्यकार ने अचौर्यव्रत की भावनाएँ वहाँ से ग्रहण की हैं, इस कारण वे यापनीय सिद्ध नहीं हो सकते। अन्य हेतुओं से भाष्यकार भले ही यापनीय सिद्ध होते हों, तत्त्वार्थसूत्रकार यापनीय सिद्ध नहीं होते।

३. **हेतु**—भगवती-आराधना और मूलाचार के अनुसार ही तत्त्वार्थसूत्र में द्वादश अनुप्रेक्षाओं का वर्णन है और उक्त दोनों ग्रन्थ यापनीयपरम्परा के हैं, इसलिए तत्त्वार्थसूत्र भी उसी परम्परा का है।

निरसन—पूर्व में सिद्ध किया जा चुका है कि उक्त दोनों ग्रन्थ दिगम्बरपरम्परा के हैं, अतः उपर्युक्त हेतु से तत्त्वार्थसूत्र दिगम्बर-परम्परा का ही ग्रन्थ सिद्ध होता है।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

४. **हेतु—'आर्या म्लेच्छाश्च'** (त.सू./श्वे./३/१५) सूत्र के भाष्य में अन्तरद्वीपों के नाम वहाँ के मनुष्यों के नाम पर पड़े हुए बतलाये गये हैं। भगवती-आराधना की विजयोदयाटीका में भी ऐसा ही कहा गया है। चूँकि अपराजितसूरि यापनीय हैं, अतः उपर्युक्त मतसाम्य से भाष्यकार, जो कि सूत्रकार भी हैं, यापनीय सिद्ध होते हैं।

निरसन—अपराजित सूरि पक्के दिगम्बराचार्य थे, यह पूर्व में अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया जा चुका है। अतः उक्त मतसाम्य से भाष्यकार यापनीय सिद्ध नहीं होते। फलस्वरूप भाष्यकार को ही सूत्रकार मानने पर भी यह सिद्ध नहीं होता कि तत्त्वार्थसूत्र यापनीयग्रन्थ है।

इस तरह तत्त्वार्थसूत्र को श्वेताम्बर-सम्प्रदाय, यापनीय-सम्प्रदाय और उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय का ग्रन्थ सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किये गये समस्त हेतुओं के निरस्त हो जाने तथा उसमें सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति, परतीर्थिकमुक्ति और केवलिभुक्ति की मान्यताओं का निषेध होने से सिद्ध होता है कि वह न श्वेताम्बरसम्प्रदाय का ग्रन्थ है, न यापनीयसम्प्रदाय का और न कपोलकल्पित उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसम्प्रदाय का, अपितु दिगम्बरसम्प्रदाय का है।

अध्याय १७—तिलोयपण्णत्ती

डॉ० सागरमल जी ने आचार्य यतिवृषभकृत तिलोयपण्णत्ती का अध्ययन किये बिना ही उसे यापनीयग्रन्थ घोषित कर दिया है। वे लिखते हैं—"यतिवृषभ के चूर्णिसूत्रों में न तो स्त्रीमुक्ति का निषेध है और न केवलिभुक्ति का, अतः उन्हें यापनीयपरम्परा से सम्बद्ध मानने में कोई बाधा नहीं आती।" (जै.ध.या.स./पृ.११५)।

किन्तु, यतिवृषभकृत तिलोयपण्णत्ती में तो स्पष्ट शब्दों में स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति का निषेध है। यथा—

चउविह-उवसग्गेहिं णिच्चविमुक्को कसायपरिहीणो।
छुह - पहुदि - परिसहेहिं परिचत्तो रायदोसेहिं॥ १/५९॥

एदेहिं अण्णेहिं विरचिद-चरणारविंद-जुगपुज्जो।
दिट्ठ - सयलट्ठ - सारो महावीरो अत्थकत्तारो॥ १/६४॥

इन गाथाओं में भगवान् महावीर को स्पष्टतः क्षुधा आदि बाईस परीषहों से रहित बतलाया गया है, जो डंके की चोट पर केवलिभुक्ति का निषेध है।

इसी प्रकार तिलोयपण्णत्ती की निम्नलिखित गाथाओं में देशव्रतियों (श्रावकों) और स्त्रियों का गमन अच्युत स्वर्ग (सोलहवें कल्प) तक, अभव्य जिनलिंगधारियों का नौवें ग्रैवेयकपर्यन्त तथा निर्ग्रन्थों का सर्वार्थसिद्धि तक बतलाया गया है—

सोहम्मादी-अच्चुदपरियंतं जंति देसवदजुत्ता।
चउविहदाणपयट्टा अकसाया पंचगुरुभत्ता॥ ८/५८१॥

सम्मत्तणाणअज्जवलज्जासीलादिएहि परिपुण्णा।
जायंते इत्थीआ जा अच्चुद-कप्प-परियंतं॥ ८/५८२॥

जिणलिंगधारिणो जे उक्किट्ठतवस्समेण संपुण्णा।
ते जायंति अभव्वा उवरिम-गेवज्ज-परियंतं॥ ८/५८३॥

परदो अच्चण-वद-तव-दंसण-णाण-चरणसंपण्णा।
णिग्गंथा जायंते भव्वा सव्वट्ठसिद्धिपरियंतं॥ ८/५८४॥

ये सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति और गृहस्थमुक्ति के निषेध की स्पष्ट घोषणाएँ हैं। इन यापनीयमत-विरुद्ध सिद्धान्तों के प्रतिपादन से सिद्ध हो जाता है कि तिलोयपण्णत्ती के कर्त्ता आचार्य यतिवृषभ को यापनीयपरम्परा से सम्बद्ध मानना सत्य का कितना बड़ा अपलाप है! उक्त यापनीयमत-विरुद्ध सिद्धान्त दिगम्बरजैन सिद्धान्त हैं। तिलोयपण्णत्ती में उनकी उपलब्धि प्रमाणित करती है कि वह दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ है।

अध्याय १८—सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन दिगम्बराचार्य

आचार्य सिद्धसेनकृत **सन्मतिसूत्र** (सम्मइसुत्तं) प्राचीनकाल से दिगम्बरग्रन्थ के रूप में प्रसिद्ध है, किन्तु कुछ आधुनिक श्वेताम्बर विद्वानों ने उसे श्वेताम्बरग्रन्थ तथा कुछ नवीन दिगम्बर-शोधकर्त्ताओं ने यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। डॉ० सागरमल जी ने उसे स्वकल्पित उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थपरम्परा का ग्रन्थ बतलाया है। माननीय पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने गहन अनुसन्धान करके प्रबल युक्तियों और प्रमाणों के द्वारा सिद्ध किया है कि वह दिगम्बर-ग्रन्थ ही है। उनका यह अनुसन्धानात्मक लेख उनके **पुरातन-जैनवाक्य-सूची** नामक ग्रन्थ की प्रस्तावना का अंग है, जो पृष्ठ ११९ से १६८ तक **सन्मतिसूत्र और सिद्धसेन** शीर्षक से मुद्रित है। उनके शोध-निष्कर्ष नीचे प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

१. कल्याणमन्दिरस्तोत्र, २. द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका (स्तुतिग्रन्थ) ३. सन्मतिसूत्र और ४. न्यायावतार, इन चार कृतियों को श्वेताम्बर विद्वान् एक ही सिद्धसेन की कृतियाँ मानते हैं और यतः कुछ द्वात्रिंशिकाओं में श्वेताम्बरीय सिद्धान्तों का प्रतिपादन है, इसलिए कल्याणमन्दिरस्तोत्र एवं सन्मतिसूत्र को भी श्वेताम्बरग्रन्थ कहते हैं।

क—पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार का कथन है कि वर्तमान **कल्याणमन्दिर स्तोत्र** के अन्तिम पद्य में सूचित किये गये **कुमुदचन्द्र** नाम के अनुसार दिगम्बर जैन उसे कुमुदचन्द्राचार्यकृत दिगम्बरजैन कृति मानते हैं। यह युक्तिसंगत है, क्योंकि उसमें

'**प्राग्भारसम्भृत-नभांसि रजांसि रोषात्**' इत्यादि तीन पद्य ऐसे हैं, जो पार्श्वनाथ को दैत्यकृत उपसर्ग से युक्त प्रकट करते हैं, जो दिगम्बरमान्यता के अनुकूल और श्वेताम्बरमान्यता के प्रतिकूल हैं। कारण यह है कि श्वेताम्बरीय आचारांगनिर्युक्ति में वर्द्धमान को छोड़कर शेष २३ तीर्थंकरों के तपःकर्म को निरुपसर्ग वर्णित किया गया है। इससे उपलब्ध कल्याणमन्दिरस्तोत्र दिगम्बरकृति सिद्ध होता है। (अध्याय १८ / प्र.१ / शी.३)।

ख—मुख्तार जी ने **न्यायावतार** के कर्त्ता सिद्धसेन को श्वेताम्बर माना है, क्योंकि उनकी दिगम्बर-सम्प्रदाय में मान्यता नहीं है और 'न्यायावतार' पर किसी दिगम्बर की टीका भी नहीं मिलती, जब कि उस पर श्वेताम्बरों के अनेक टीका-टिप्पण उपलब्ध होते हैं। (अध्याय १८/ प्र.१/ शी.१०)।

ग—**सन्मतिसूत्र** के कर्त्ता सिद्धसेन को मुख्तार जी ने निम्नलिखित हेतुओं के आधार पर दिगम्बर-जैनाचार्य सिद्ध किया है—

१. सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन ने श्वेताम्बर-आगमों की **उपयोगद्वय-विषयक-क्रमवाद** (केवली के दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग के क्रमशः होने) की मान्यता का सन्मति-सूत्र में जोरदार खण्डन किया है और **उपयोग-अभेदवाद** या **एकोपयोगवाद** (केवली के उपयोग में दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग का भेद न होने) की सिद्धि की है, जो दिगम्बरमान्य **यौगपद्यवाद** (केवली के दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग के क्रमशः न होकर एक साथ होने की मान्यता) के निकट है।

२. श्वेताम्बराचार्यों ने सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन की अभेदवादी मान्यता की कटु आलोचना की है और उनके प्रति अनादरभाव प्रकट किया है, जब कि दिगम्बरसाहित्य में सर्वत्र उनका सम्मानपूर्वक स्मरण किया गया है।

३. दिगम्बरसम्प्रदाय में सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन को सेनगण (संघ) का आचार्य माना गया है और सेनगण की पट्टावली में उनका उल्लेख है।

४. हरिवंशपुराणकार दिगम्बराचार्य जिनसेन ने पुराण के अन्त में अपनी गुर्वावली में सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन के नाम का उल्लेख किया है और आरंभ में उनकी सूक्तियों को भगवान् वृषभदेव की सूक्तियों के तुल्य बतलाया है।

५. आदिपुराणकार जिनसेन ने सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन को अपने से उत्कृष्ट कवि निरूपित करते हुए मिथ्यावादियों के मतों का निरसन करनेवाला कहा है।

६. वीरसेन स्वामी ने 'धवला' में और उनके शिष्य जिनसेन ने 'जयधवला' में सिद्धसेन के सन्मतिसूत्र को अपना मान्य ग्रन्थ कहा है।

७.'नियमसार' की तात्पर्यवृत्ति में पद्मप्रभमलधारिदेव ने उक्त सिद्धसेन की वन्दना करते हुए उन्हें सिद्धान्त का ज्ञाता और प्रतिपादन-कौशल-रूप उच्चश्री का स्वामी सूचित किया है। इसके अतिरिक्त प्रतापकीर्ति ने आचार्यपूजा के प्रारंभ में दी हुई गुर्वावली में तथा मुनि कनकामर ने **करकंडुचरिउ** में सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन की अत्यन्त प्रशंसा की है।

८. पद्मपुराणकार रविषेण ने सन्मतिसूत्र के कर्त्ता सिद्धसेन को इन्द्रगुरु का शिष्य, अर्हन्मुनि का गुरु और रविषेण के गुरु लक्ष्मणसेन का दादा गुरु अर्थात् अपना परदादागुरु कहा है।

९. दिगम्बर-सेनगण की पट्टावली में भी उक्त सिद्धसेन के विषय में उज्जयिनी के महाकाल-मन्दिर में लिंगस्फोटनादि-सम्बन्धी घटना का उल्लेख मिलता है।

१०. इन हेतुओं में एक हेतु मैं भी जोड़ देना चाहता हूँ, वह यह कि दिगम्बराचार्य जटासिंहनन्दी ने 'वरांगचरित' में सन्मतिसूत्र की अनेक गाथाओं को संस्कृत पद्यों में रूपान्तरित किया है।

ये हेतु सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन को दिगम्बराचार्य सिद्ध करनेवाले दृढ़ प्रमाण हैं। (अध्याय १८ / प्र.१)।

घ—**द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका** ३२-३२ पद्यों की ३२ कृतियों का संग्रह है, जिनमें से २१ उपलब्ध हैं।

१. इनमें से पहली, दूसरी और पाँचवीं द्वात्रिंशिकाओं में **युगपद्वाद** (केवली के दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग के युगपद् होने का मत) स्वीकार किया गया है। अतः इनके कर्त्ता उपयोग-अभेदवादी सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन नहीं हो सकते। (अध्याय १८/ प्र.१/ शी.५.२)। ये किसी अन्य दिगम्बर सिद्धसेन की कृतियाँ हैं।

२. उन्नीसवीं **निश्चयद्वात्रिंशिका** एकोपयोगवाद-विरोधी और युगपद्वादी है, अतः एकोपयोगवादी सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन की कृति नहीं है। इसके अतिरिक्त इसमें मति-ज्ञान और श्रुतज्ञान तथा अवधिज्ञान एवं मनःपर्ययज्ञान में अभेद माना गया है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र को पृथक्-पृथक् मोक्षमार्ग स्वीकार किया गया है तथा धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्यों का अस्तित्व भी अमान्य किया गया है। ये मान्यताएँ भी सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन की मान्यताओं के विरुद्ध हैं। अतः इस 'निश्चयद्वात्रिंशिका' के कर्त्ता कोई और सिद्धसेन हैं। (अध्याय १८ / प्र.१ / शी. ५.३ से ५.८)।

उक्त 'निश्चयद्वात्रिंशिका' के अंत में उसके कर्त्ता सिद्धसेन को **द्वेष्य-श्वेतपट** विशेषण दिया गया है, जिसका अर्थ है द्वेषयोग्य (शत्रु माने जाने योग्य) श्वेताम्बर।

७.'नियमसार' की तात्पर्यवृत्ति में पद्मप्रभमलधारिदेव ने उक्त सिद्धसेन की वन्दना करते हुए उन्हें सिद्धान्त का ज्ञाता और प्रतिपादन-कौशल-रूप उच्चश्री का स्वामी सूचित किया है। इसके अतिरिक्त प्रतापकीर्ति ने आचार्यपूजा के प्रारंभ में दी हुई गुर्वावली में तथा मुनि कनकामर ने **करकंडुचरिउ** में सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन की अत्यन्त प्रशंसा की है।

८.पद्मपुराणकार रविषेण ने सन्मतिसूत्र के कर्त्ता सिद्धसेन को इन्द्रगुरु का शिष्य, अर्हन्मुनि का गुरु और रविषेण के गुरु लक्ष्मणसेन का दादा गुरु अर्थात् अपना परदादागुरु कहा है।

९.दिगम्बर-सेनगण की पट्टावली में भी उक्त सिद्धसेन के विषय में उज्जयिनी के महाकाल-मन्दिर में लिंगस्फोटनादि-सम्बन्धी घटना का उल्लेख मिलता है।

१०. इन हेतुओं में एक हेतु मैं भी जोड़ देना चाहता हूँ, वह यह कि दिगम्बराचार्य जटासिंहनन्दी ने 'वरांगचरित' में सन्मतिसूत्र की अनेक गाथाओं को संस्कृत पद्यों में रूपान्तरित किया है।

ये हेतु सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन को दिगम्बराचार्य सिद्ध करनेवाले दृढ़ प्रमाण हैं। (अध्याय १८ / प्र.१)।

घ—**द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका** ३२-३२ पद्यों की ३२ कृतियों का संग्रह है, जिनमें से २१ उपलब्ध हैं।

१. इनमें से पहली, दूसरी और पाँचवीं द्वात्रिंशिकाओं में **युगपद्वाद** (केवली के दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग के युगपद् होने का मत) स्वीकार किया गया है। अतः इनके कर्त्ता उपयोग-अभेदवादी सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन नहीं हो सकते। (अध्याय १८/ प्र.१/ शी.५.२)। ये किसी अन्य दिगम्बर सिद्धसेन की कृतियाँ हैं।

२. उन्नीसवीं **निश्चयद्वात्रिंशिका** एकोपयोगवाद-विरोधी और युगपद्वादी है, अतः एकोपयोगवादी सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन की कृति नहीं है। इसके अतिरिक्त इसमें मति-ज्ञान और श्रुतज्ञान तथा अवधिज्ञान एवं मनःपर्ययज्ञान में अभेद माना गया है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र को पृथक्-पृथक् मोक्षमार्ग स्वीकार किया गया है तथा धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्यों का अस्तित्व भी अमान्य किया गया है। ये मान्यताएँ भी सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन की मान्यताओं के विरुद्ध हैं। अतः इस 'निश्चयद्वात्रिंशिका' के कर्त्ता कोई और सिद्धसेन हैं। (अध्याय १८ / प्र.१ / शी. ५.३ से ५.८)।

उक्त 'निश्चयद्वात्रिंशिका' के अंत में उसके कर्त्ता सिद्धसेन को **द्वेष्य-श्वेतपट** विशेषण दिया गया है, जिसका अर्थ है द्वेषयोग्य (शत्रु माने जाने योग्य) श्वेताम्बर।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

यह विशेषण उनकी जैनसिद्धान्तविरोधी मान्यताओं के कारण उनके ही सम्प्रदाय के किसी असहिष्णु विद्वान् के द्वारा दिया गया जान पड़ता है, अतः यह १९वीं द्वात्रिंशिका किसी श्वेताम्बर सिद्धसेन की है।

३. इक्कीसवीं द्वात्रिंशिका भी किसी श्वेताम्बर सिद्धसेन द्वारा रचित है। (अध्याय १८/प्र.१/शी.४)। उपसंहार करते हुए मुख्तार जी लिखते हैं कि प्रथमादि पाँच द्वात्रिंशिकाओं को (उपयोग-युगपद्वादी) दिगम्बर सिद्धसेन की, १९वीं तथा २१वीं द्वात्रिंशिकाओं को श्वेताम्बर सिद्धसेन की और शेष द्वात्रिंशिकाओं को दोनों में से किसी भी सम्प्रदाय के सिद्धसेन की अथवा दोनों ही सम्प्रदायों के सिद्धसेनों की अलग-अलग कृति कहा जा सकता है। (अध्याय १८/प्र.१/शी.१०)।

ङ—डॉ० सागरमल जी का कथन है कि **पंचम द्वात्रिंशिका** (३६) में यशोदा के साथ भगवान् महावीर के विवाह का उल्लेख है, जिससे सिद्ध होता है कि सिद्धेसन श्वेताम्बर थे। (जै.ध.या.स./पृ.२२८)। किन्तु 'पञ्चम द्वात्रिंशिका' में **उपयोग-युगपद्वाद** का प्रतिपादन है, जो सन्मतिसूत्रकार के उपयोग-अभेदवाद के विरुद्ध है। अतः वह उनकी कृति नहीं है। इसलिए उसमें महावीर के विवाह का उल्लेख होने से यह सिद्ध नहीं होता कि सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन श्वेताम्बर थे। (अध्याय १८/प्र.२)।

डॉ० सागरमल जी ने और भी अनेक हेत्वाभासों के द्वारा पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार के निर्णयों का विरोध किया है। उनका निरसन अष्टादश अध्याय के द्वितीय प्रकरण में द्रष्टव्य है।

च—**सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन का समय**—सिद्धसेन ने सन्मतिसूत्र में छठी शती ई० (वि० सं० ५६२) के निर्युक्तिकार भद्रबाहु-द्वितीय द्वारा पुरस्कृत **उपयोग-क्रमवाद** का खण्डन किया है और सिद्धसेन के **उपयोग-अभेदवाद** का खण्डन ७वीं शती ई० (विक्रम की ७वीं शताब्दी के उत्तरार्ध) के भट्ट अकलंकदेव ने 'तत्त्वार्थराजवार्तिक' में और इसी समय के जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण ने 'विशेषावश्यकभाष्य' (वि० सं० ६६६) में किया है। अतः सन्मतिसूत्रकार का समय ईसा की छठी और सातवीं सदी का मध्य है (अध्याय १८/प्र.१/शी.६,७)। पूज्यपाद देवनन्दी ने **जैनेन्द्रव्याकरण** में जिन सिद्धसेन का उल्लेख किया है, वे सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन नहीं हैं, अपितु तीसरी और नौवीं द्वात्रिंशिका के कर्त्ता सिद्धसेन हैं। वे पूज्यपाद देवनन्दी से पहले हुए हैं। किन्तु उनसे पहले उपयोगद्वय के क्रमवाद तथा अभेदवाद के कोई पुरस्कर्त्ता नहीं हुए हैं, हुए होते तो पूज्यपाद अपनी सर्वार्थसिद्धि में सनातन से चले आये युगपद्वाद का प्रतिपादनमात्र करके ही न रह जाते, बल्कि उसके विरोधी वाद अथवा वादों का खण्डन जरूर करते। (अध्याय १८/प्र.१/शी.७.१)।

□ सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन के यापनीयत्व का निरसन

डॉ० ए० एन० उपाध्ये और उनका अनुसरण करनेवाली श्रीमती डॉ० कुसुम पटोरिया ने सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन को यापनीयपरम्परा का सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। किन्तु उनके द्वारा प्रस्तुत सभी हेतु हेत्वाभास हैं, अतः यह सिद्ध नहीं होता कि वे यापनीयपरम्परा के थे। उनके द्वारा प्रस्तुत हेतु और उनका निरसन अष्टादश अध्याय के सप्तम प्रकरण में दर्शनीय है।

□ उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ के आचार्य होने का निरसन

डॉ० सागरमल जी ने सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन को न श्वेताम्बर माना है, न यापनीय, अपितु स्वकल्पित उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ का आचार्य बतलाया है। किन्तु द्वितीय अध्याय के तृतीय प्रकरण में सिद्ध किया गया है कि इस संघ या परम्परा का अस्तित्व ही नहीं था। इसलिए सन्मतिसूत्रकार एक अस्तित्वहीन परम्परा के आचार्य नहीं हो सकते।

अध्याय १९—रविषेणकृत पद्मपुराण

आचार्य रविषेणकृत पद्मपुराण (पद्मचरित) को मूलतः श्रीमती डॉ० कुसुम पटोरिया ने और उनसे प्रेरणा पाकर डॉ० सागरमल जी ने यापनीयसम्प्रदाय का ग्रन्थ घोषित किया है। श्रीमती पटोरिया द्वारा प्रस्तुत हेतु एवं उनका निरसन नीचे द्रष्टव्य हैं—

१. **हेतु**—रविषेण ने अपनी गुरुपरम्परा में 'इन्द्र' का उल्लेख किया है। यापनीय-आचार्य पाल्यकीर्ति शाकटायन ने भी अपने शाकटायनसूत्र-पाठ में 'इन्द्र' के मत की चर्चा की है। इससे सिद्ध होता है कि इन्द्र यापनीय हैं, अतः उनके प्रशिष्य रविषेण भी यापनीय हैं।

निरसन—पद्मपुराण में यापनीयमत-विरोधी सिद्धान्तों के प्रतिपादन से सिद्ध है कि वह यापनीयग्रन्थ नहीं है। अतः उसके कर्त्ता रविषेण भी यापनीय नहीं हैं। इसलिए उनके इन्द्र, दिवाकरयति आदि गुरुओं का भी यापनीय होना असंभव है।

२. **हेतु**—रविषेण ने रामकथा की परम्परागतता पर प्रकाश डालते हुए सुधर्मा के बाद श्वेताम्बरपरम्परा के प्रभवस्वामी को उसका प्राप्त होना बतलाया है। यह उनके यापनीय होने का लक्षण है।

निरसन—रविषेण ने पद्मपुराण की रचना श्वेताम्बर विमलसूरि के 'पउमचरिय' के आधार पर की है। उन्होंने 'पउमचरिय' का दिगम्बरीकरण किया है, किन्तु वे

आरम्भ में प्रभवस्वामी के स्थान में जम्बूस्वामी का नाम रखना भूल गये। यह भूल उन्होंने पद्मपुराण (भाग ३) के अन्त में सुधार ली है। अतः उनके यापनीय होने की संभावना निरस्त हो जाती है।

३. **हेतु**—रविषेण ने दिगम्बरपरम्परा में प्रचलित गुणभद्रवाली कथा न अपनाकर श्वेताम्बर विमलसूरि-प्रणीत कथा अपनायी है। इससे उनके यापनीय होने की पुष्टि होती है।

निरसन—रविषेण ने पद्मपुराण में यापनीयमत-विरोधी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, यह इस बात का अखण्ड्य प्रमाण है कि वे यापनीयपरम्परा के नहीं, बल्कि दिगम्बरपरम्परा के हैं। उन्होंने श्वेताम्बर विमलसूरि-प्रणीत कथा का दिगम्बरीकरण किया है, यह उनके दिगम्बर होने का स्पष्ट प्रमाण है।

४. **हेतु**—रविषेण की कथा को यापनीय स्वयम्भू द्वारा अपनाया जाना भी रविषेण को यापनीय मानने का एक महत्त्वपूर्ण कारण है।

निरसन—'पउमचरिउ' के कर्त्ता स्वयम्भू यापनीय नहीं, दिगम्बर थे, इसके प्रमाण द्वाविंश अध्याय में अवलोकनीय हैं।

५. **हेतु**—रविषेण के पद्मपुराण में कई उल्लेख दिगम्बर-परम्परा के विपरीत हैं, जैसे गन्धर्वदेवों को मद्यपी तथा यक्ष-राक्षसादि को कवलाहारी मानना। इससे भी उनके यापनीय होने का विश्वास होता है।

निरसन—ये मान्यताएँ यापनीयमत की हैं, यह तो तभी कहा जा सकता है, जब किसी यापनीयग्रन्थ में उपलब्ध हों। यापनीयपरम्परा के तीन ही ग्रन्थ उपलब्ध हैं—'स्त्रीनिर्वाणप्रकरण', 'केवलिभुक्तिप्रकरण' एवं 'शाकटायन-व्याकरण।' इनमें उपर्युक्त मान्यताएँ उपलब्ध नहीं हैं। और पद्मपुराण यापनीयग्रन्थ नहीं है, यह उसमें प्रतिपादित यापनीयमत-विरुद्ध सिद्धान्तों से सिद्ध है। अतः उपर्युक्त मान्यताएँ दिगम्बरमत के विरुद्ध अवश्य हैं, पर वे यापनीयमत की हैं, यह सिद्ध नहीं होता। अतः यही निर्णीत होता है कि हरिषेण ने दिगम्बर होते हुए भी लोक-मान्यताओं और इतर सम्प्रदायों की मान्यताओं से प्रभावित होकर उनका समावेश पद्मपुराण में कर दिया है।

इस तरह पद्मपुराण को यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किये गये उपर्युक्त पाँचों हेतु मिथ्या हैं। इसके विपरीत निम्नलिखित हेतु सिद्ध करते हैं कि हरिषेणकृत पद्मपुराण दिगम्बरग्रन्थ है—

१. पद्मपुराण में एकमात्र दिगम्बरलिंग को ही मुनिलिंग बतलाया गया है, वस्त्र-पात्रादिधारी साधुओं को कुलिंगी कहकर यापनीयमान्य सवस्त्र अपवादलिंग अस्वीकार किया गया है।

२. वस्त्रमात्र-परिग्रहधारी गृहत्यागी पुरुष को 'क्षुल्लक' संज्ञा दी गयी है और इस तरह स्पष्ट किया गया है कि ऐसा पुरुष 'मुनि' संज्ञा का पात्र नहीं है।

३. यापनीयों को मान्य गृहस्थमुक्ति, परतीर्थिकमुक्ति और स्त्रीमुक्ति का स्पष्ट शब्दों में निषेध किया गया है।

४. सोलह कल्प स्वीकार किये गये है, चार अनुयोगों के नाम दिगम्बरमतनुसार वर्णित हैं, आहारदान की विधि दिगम्बर-परम्परानुसार बतलायी गयी हैं, दाता के यहाँ पंचाश्चर्य किये जाने का कथन है, जो दिगम्बरपरम्परा का अनुसरण है।

ये समस्त तथ्य यापनीयमत के विरुद्ध हैं। ये इस बात के अकाट्य प्रमाण हैं कि रविषेणकृत पद्मपुराण दिगम्बरग्रन्थ है, यापनीयग्रन्थ नहीं।

अध्याय २०—वराङ्गचरित

डॉ० सागरमल जी ने जटासिंहनन्दि-कृत 'वराङ्गचरित' को भी यापनीयसम्प्रदाय के खाते में डाल दिया है और निम्नलिखित हेतुओं से इसकी पुष्टि करने का प्रयत्न किया है, जो सभी निरस्त हो जाते हैं—

१. **हेतु**—वरांगचरित (२३/२९) में **वस्त्रान्नदानं श्रवणार्यिकाभ्यः** इन शब्दों से कहा गया है कि राजा वरांग ने श्रावकों (श्रवणों) और आर्यिकाओं को वस्त्र और आहार का दान किया। यहाँ प्रूफ की अशुद्धि से 'श्रमण' शब्द के स्थान में 'श्रवण' छप गया है, ऐसी कल्पना कर डॉ० सागरमल जी ने कहा है कि इस श्लोक में श्रमणों को वस्त्रदान का कथन है, जिससे सिद्ध है कि यह ग्रन्थ साधुओं के सवस्त्र अपवादलिंग को मान्यता देता है, अतः यापनीय-सम्प्रदाय का है।

निरसन—श्रवणार्यिकाभ्यः में प्रूफ की अशुद्धि नहीं है, अपितु 'श्रवण' शब्द का ही प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ है **श्रावक**। उक्त श्लोक में जिनालय के निर्माण आदि में सहयोग करनेवाले श्रावकों को वस्त्रान्नदान का कथन किया गया है, श्रमणों को नहीं। अतः इसे यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किया गया हेतु मिथ्या है।

२. **हेतु**—वरांगचरित (२९/९३-९४) में राजा वरांग की वरांगियों (वराङ्ग्यः=सुन्दर रानियों) की आर्यिकादीक्षा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वरांगियों ने सुन्दर आभूषण त्याग दिये और श्वेत-शुभ वस्त्र धारणकर जिनेन्द्रमार्ग में अभिरत हो गयीं। यहाँ रानियों के वाचक **वराङ्ग्यः** पद को राजा वरांग का वाचक मानकर डॉ० सागरमल जी ने तर्क दिया है कि 'वरांगचरित' में राजा वरांग मुनिदीक्षा गहण करते समय श्वेत वस्त्र धारण करते हैं। यापनीयपरम्परा में मुनिदीक्षा ग्रहण करनेवाले राजा आदि के

लिए सवस्त्र अपवादलिंग का विधान है। अतः सिद्ध है कि वरांगचरित यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ है।

निरसन—वरांगियों के कथन को राजा वरांग का कथन मान लेना डॉ० सागरमल जी के संस्कृतभाषा से अनभिज्ञ होने का परिणाम है। अतः वरांगचरित को यापनीयग्रन्थ मानने का यह हेतु मिथ्या है।

३. **हेतु**—हरिवंशपुराण के कर्त्ता जिनसेन यापनीय-आचार्य थे। उन्होंने जटासिंहनन्दी का आदरपूर्वक उल्लेख किया है, अतः वे भी यापनीय रहे होंगे।

निरसन—हरिवंशपुराण के कर्त्ता आचार्य जिनसेन यापनीय नहीं, अपितु दिगम्बर थे, यह एकविंश (२१वें) अध्याय में सिद्ध किया गया है। अतः जटासिंहनन्दी को यापनीय सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत यह हेतु असत्य है।

४. **हेतु**—कन्नड़ कवि जन्न ने जटासिंहनन्दी को काणूरगण का बताया है। यह यापनीयपरम्परा का गण था। अतः जटासिंहनन्दी यापनीय थे।

निरसन—काणूरगण यापनीयपरम्परा का नहीं, अपितु दिगम्बरपरम्परा का गण था। (देखिये, अध्याय ७/प्र.३/शी.४)।

५. **हेतु**—कोप्पल में जटासिंहनन्दी के चरणचिह्न हैं। संभवतः यहाँ उनका समाधिमरण हुआ होगा। कोप्पल यापनीयों का मुख्यपीठ था। अतः जटासिंहनन्दी के यापनीय होने की प्रबल संभावना है।

निरसन—इस (२० वें) अध्याय के प्रथम प्रकरण में सिद्ध किया गया है कि वरांगचरित में यापनीयमत-विरुद्ध सिद्धान्तों का प्रतिपादन है। इससे सिद्ध है कि जटासिंहनन्दी दिगम्बर थे। अतः उपर्युक्त हेतु हेत्वाभास है।

६. **हेतु**—यापनीयपरम्परा में मुनि के लिए 'यति' शब्द का प्रयोग अधिक प्रचलित रहा है। वरांगचरित में भी 'यति' शब्द का व्यवहार प्रचुरता से हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि यह यापनीयसम्प्रदाय का ग्रन्थ है।

निरसन—'यति' शब्द का प्रयोग दिगम्बरपम्परा में भी मुनियों के लिए बहुशः हुआ है। अतः उपर्युक्त हेतु हेत्वाभास है

७. **हेतु**—जटासिंहनन्दी ने वरांगचरित में प्रकीर्णक आदि श्वेताम्बरग्रन्थों का अनुसरण किया है। यह उनके यापनीयसम्पद्राय से सम्बद्ध होने का सूचक है।

निरसन—श्वेताम्बरग्रन्थों का नहीं, अपितु दिगम्बरग्रन्थों का अनुसरण किया है। (देखिये, अध्याय २०/प्र.२/शी.६)। अतः उक्त हेतु असत्य है।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

८. **हेतु**—वरांगचरित में श्वेताम्बराचार्य विमलसूरि के 'पउमचरियं' का अनुकरण किया गया है। यह वरांगचरित के यापनीयग्रन्थ होने का प्रमाण है।

निरसन—वरांगचरित में ईसा की पाँचवीं शती में हुए श्वेताम्बराचार्य विमलसूरि के **पउमचरियं** का नहीं, अपितु ईसापूर्वोत्तर प्रथम शती में हुए आचार्य कुन्दकुन्द का अनुसरण किया गया है। (देखिये, अध्याय २० / प्र.२ / शी.७)।

९. **हेतु**— कल्पों की संख्या बारह मानी गयी है, जो श्वेताम्बरों और यापनीयों की मान्यता है।

निरसन—दिगम्बरपरम्परा में भी कल्पों की संख्या बारह और सोलह दोनों मानी गयी है। (देखिये, अध्याय १७ / प्र. १ / शी. ८)। अतः उपर्युक्त हेतु साधारणानैकान्तिक हेत्वाभास है।

१०. **हेतु**—वरांगचरित में जन्मना वर्णव्यवस्था का निषेधकर कर्मणा वर्णव्यवस्था मानी गयी है, जब कि दिगम्बरपरम्परा में जन्मना वर्णव्यवस्था मान्य है। इससे जटासिंहनन्दी यापनीय सिद्ध होते हैं।

निरसन—दिगम्बरपरम्परा में भी कर्मणा वर्णव्यवस्था मानी गयी है, जन्मना नहीं। अतः जटासिंहनन्दी को यापनीय सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किया गया उपर्युक्त हेतु असत्य है। (देखिये, अध्याय २० / प्र.२ / शी.९)।

इन समस्त हेतुओं के निरसन के बाद वे प्रमाण उपस्थित किये जा रहे हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि वरांगचरित दिगम्बरपरम्परा का ही ग्रन्थ हैं-

१. वरांगचरित में केवलिभुक्ति, वैकल्पिक सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति एवं अन्यलिंगिमुक्ति का निषेध किया गया है, जो यापनीयमत के आधारभूत सिद्धान्त हैं।

२. वरांगचरित में महावीर के विवाह की मान्यता भी अस्वीकार की गई है, जब कि यापनीयमान्य श्वेताम्बर-आगमों में महावीर के विवाह होने की बात कही गई है।

३. वरांगचरित में जो पाँच महाव्रतों की भावनाएँ वर्णित हैं, वे दिगम्बर-आगमों का अनुसरण करती हैं और यापनीयमान्य श्वेताम्बर-तत्त्वार्थाधिगमभाष्य में वर्णित भावनाओं से भिन्न हैं।

४. वरांगचरित में मुनि के लिए बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग आवश्यक बतलाया गया है। यह सिद्धान्त यापनीयों द्वारा मान्य वैकल्पिक सवस्त्रमुक्ति के विरुद्ध है।

५. वरांगचरित में स्वतंत्र काल द्रव्य की सत्ता स्वीकार की गई है, जब कि यापनीय-मान्य श्वेताम्बर-आगम उसे अमान्य करते हैं।

६. वरांगचरित में चौदह गुणस्थानों का कथन है। यह सिद्धान्त यापनीयों की गृहस्थमुक्ति एवं अन्यलिंगिमुक्ति की मान्यताओं के विरुद्ध है।

७. वरांगचरित में दिगम्बरमत के अनुरूप **प्रथमानुयोग** शब्द का प्रयोग किया गया है। यापनीयमान्य श्वेताम्बरसाहित्य में उसके स्थान पर **धर्मकथानुयोग** शब्द प्रयुक्त हुआ है।

८. वरांगचरित में वेदत्रय की स्वीकृति है, जब कि यापनीयमत केवल एक ही वेदसामान्य मानता है।

अध्याय २१—हरिवंशपुराण

श्रीमती डॉ० कुसुम पटोरिया एवं डॉ० सागरमल जी ने पुन्नाटसंघीय आचार्य जिनसेन के हरिवंशपुराण पर भी यापनीयसम्प्रदाय की मुद्रा अंकित कर दी है और निम्नलिखित हेतुओं से इसकी पुष्टि का प्रत्यत्न किया है, जो सब निरस्त हो जाते हैं—

१. **हेतु**—बृहत्कथाकोशकार हरिषेण पुन्नाटसंघी थे। उन्होंने कथाकोश में स्त्री-मुक्ति और गृहस्थमुक्ति का स्पष्ट उल्लेख किया है, अतः उन्हें यापनीय होना चाहिए। हरिवंशपुराण के कर्त्ता जिनसेन भी पुन्नाटसंघी थे, अतः इन्हें भी यापनीय ही होना चाहिए।

निरसन—जिनसेन और हरिषेण दोनों ने क्रमशः अपने हरिवंशपुराण एवं बृहत्कथाकोश में स्त्रीमुक्ति, सवस्त्रमुक्ति, गृहस्थमुक्ति आदि यापनीयसिद्धान्तों का निषेध किया है, अतः दोनों यापनीय नहीं थे, अपितु दिगम्बर थे। अतः उनका पुन्नाटसंघ भी दिगम्बरों का ही संघ था, यापनीयों का नहीं। (देखिये, अध्याय २१/प्र.१ तथा अध्याय २३/शी.१-३)।

२. **हेतु**—हरिवंशपुराण के कथनानुसार राजा सिद्धार्थ के भगिनीपति राजा जितशत्रु कुमार महावीर के साथ अपनी कन्या यशोदा का विवाह करना चाहते थे। इससे भी हरिवंशपुराणकार का यापनीय होना सिद्ध होता है।

निरसन—हरिवंशपुराणकार ने राजा जितशत्रु के मन की इच्छा सूचित कर अपनी ओर से कहा है—"परन्तु कुमार महावीर तप के लिए चले गये और केवलज्ञान प्राप्त कर जगत् के कल्याण के लिए पृथ्वी पर विहार करने लगे।" (हरिवंशपुराण ६६/८-

९)। इस कथन से स्पष्ट है कि हरिवंशपुराण के कर्त्ता जिनसेन भगवान् महावीर के विवाह की मान्यता के विरोधी हैं, अतः वे यापनीय नहीं है।

३. **हेतु**—हरिवंशपुराण में सग्रन्थमुक्ति और अन्यलिंगिमुक्ति के भी निर्देश प्राप्त होते हैं।

निरसन—यह कथन सर्वथा मिथ्या है। प्रमाण के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ के २१वें अध्याय में प्रथम प्रकरण के शीर्षक १ से ४ दर्शनीय हैं।

४. **हेतु**—हरिवंशपुराणकार ने ग्रन्थ के आरंभ में समन्तभद्र, देवनन्दी आदि दिगम्बराचार्यों के साथ सिद्धसेन आदि श्वेताम्बर तथा इन्द्र (नन्दी), वज्रसूरि, रविषेण, वराङ्ग आदि यापनीय आचार्यों का आदरपूर्वक उल्लेख किया है। इससे यही सिद्ध होता है कि हरिवंशपुराण के कर्त्ता जिनसेन उदार यापनीयपरम्परा से सम्बद्ध रहे होंगे।

निरसन—इनमें से न तो सिद्धसेन श्वेताम्बर थे, न ही वराङ्गचरित के कर्त्ता जटासिंहनन्दी तथा इन्द्र, वज्रसूरि, रविषेण आदि यापनीय थे। ये सभी दिगम्बर थे। यह प्रस्तुत ग्रन्थ के अध्याय क्र. १८, १९ एवं २० में सिद्ध किया गया है। अतः हरिवंशपुराणकार को यापनीय सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त किया उपर्युक्त हेतु असत्य है।

५. **हेतु**—हरिवंशपुराण में आर्यिकाओं का स्पष्टरूप से उल्लेख मिलता है। आर्यिकासंघ की व्यवस्था भी यापनीय है।

निरसन—दिगम्बरपरम्परा में भी आर्यिकासंघ की व्यवस्था है। (देखिये, अध्याय २१/प्र.२/क्र.५)।

६. **हेतु**—हरिवंशपुराण में श्वेताम्बरपरम्परा में उपलब्ध अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य श्रुत के भेदों का उल्लेख है। श्वेताम्बरों के अतिरिक्त यापनीय ही इन ग्रन्थों को प्रमाण मानते थे। अतः हरिवंशपुराणकार यापनीय सिद्ध होते हैं।

निरसन—श्रुत के ये भेद दिगम्बरपरम्परा में भी प्रमाण माने गये हैं। हरिवंश-पुराण में इनके नामों का उल्लेख श्वेताम्बरसाहित्य के अनुसार न होकर दिगम्बर-परम्परा के तत्त्वार्थराजवार्तिक, धवलाटीका आदि के अनुसार हआ है। इससे सिद्ध है कि हरिवंशपुराण दिगम्बर-परम्परा का ही ग्रन्थ है। (देखिये, अध्याय २१/प्र.१/शी.८/क्र.४)।

७. **हेतु**—हरिवंशपुराण के ६०वें सर्ग में कृष्ण की आठों पटरानियों-सहित अनेक स्त्रियों के दीक्षित होने का उल्लेख है, जो उसके यापनीयग्रन्थ होने की संभावना को पुष्ट करता है।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

निरसन—दगम्बरसम्प्रदाय में भगवान् ऋषभदेव के समय से ही आर्यिकादीक्षा की परम्परा चली आ रही है। हरिवंशपुराण में कृष्ण की आठों पटरानियों की आर्यिका-दीक्षा का वर्णन है, किन्तु उनमें से किसी की भी स्त्रीपर्याय से मुक्ति नहीं बतलायी गयी है। सबके विषय में यह कहा गया है कि वे अगले भव में देव होंगी, तत्पश्चात् मनुष्यभव में पुरुष होकर मोक्ष प्राप्त करेंगी। (हरिवंशपुराण/६०/५३-५४)। यह कथन हरिवंशपुराण को दिगम्बरग्रन्थ सिद्ध करता है।

८. **हेतु**—हरिवंशपुराण के उल्लेखानुसार नन्दिषेण मुनि रुग्णमुनि का वेश धारण करके आये हुए देव को उसका मनोवांछित भोजन लाकर देते हैं। यह आचरण दिगम्बर-मुनि के अनुकूल न होकर श्वेताम्बरमुनि के अनुकूल है। अतः श्वेताम्बरपरम्परा को मानना हरिवंशपुराण के यापनीय होने का सबसे बड़ा प्रमाण है।

निरसन—हरिवंशपुराण में स्त्रीमुक्तिनिषेध, सवस्त्रमुक्तिनिषेध जैसे यापनीयमत-विरोधी सिद्धान्तों का प्रतिपादन है। इससे सिद्ध है कि वह यापनीयग्रन्थ नहीं, अपितु दिगम्बरग्रन्थ है। अतः परिस्थिति-विशेष में किसी मुनि के द्वारा रुग्ण मुनि के लिए आहार लाकर दिया जाना या दिलाया जाना दिगम्बरमत के प्रतिकूल नहीं है। (देखिये, अध्याय २१/प्र.२/शी.८)।

९. **हेतु**—हरिवंशपुराण में नारद को दो स्थानों पर चरमशरीरी कहा गया है। नारद को चरमशरीरी अथवा स्वर्गगामी मानना श्वेताम्बर-आगमिक-परम्परा है। चूँकि यापनीय श्वेताम्बर-आगमों को स्वीकार करते थे, अतः हरिवंशपुराण यापनीयग्रन्थ सिद्ध होता है।

निरसन—यद्यपि नारद के चरमशरीरी होने का कथन दिगम्बरपरम्परा के विरुद्ध है, तथापि हरिवंशपुराण में स्त्रीमुक्ति, सवस्त्रमुक्ति, केवलिभुक्ति आदि सभी यापनीय-सिद्धान्तों का निषेध है, जिससे यह सुनिश्चित है कि वह दिगम्बरग्रन्थ है, यापनीयग्रन्थ नहीं।

१०. **हेतु**—हरिवंशपुराण के अनुसार नरक में विद्यमान श्रीकृष्ण का जीव सम्यग्दृष्टि होते हुए भी सम्यग्दृष्टि बलदेव के जीव से भरतक्षेत्र में कृष्ण और बलदेव की पूजा का प्रचार करने के लिए कहता है। बलदेव का जीव वैसा ही करता है। यह सम्यग्दर्शन के प्रतिकूल होने से हरिवंशपुराण के यापनीयग्रन्थ होने की पुष्टि करता है।

निरसन—यद्यपि श्रीकृष्ण के मुख से उक्त कथन कराया जाना दिगम्बरपरम्परा के अनुकूल नहीं है, तथापि हरिवंशपुराण में प्रतिपादित सभी सिद्धान्त यापनीयमत-विरोधी हैं, जैसे स्त्रीमुक्ति, सवस्त्रमुक्ति, केवलिभुक्ति आदि का निषेध। इसलिए इस तथ्य में सन्देह के लिए रंचमात्र भी अवकाश नहीं है कि वह दिगम्बरग्रन्थ है।

इस प्रकार हरिवंशपुराण को यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने के लिए रखे गये सभी हेतु निरस्त हो जाते हैं। अब वे प्रमाण प्रस्तुत किये जा रहे हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि हरिवंशपुराण सर्वथा दिगम्बरग्रन्थ है—

१. हरिवंशपुराण में यापनीयों को मान्य स्त्रीमुक्ति, आपवादिक सवस्त्रमुक्ति, गृहस्थमुक्ति, परतीर्थिकमुक्ति और केवलिभुक्ति का निषेध करनेवाले प्रचुर उल्लेख मिलते हैं।

२. भाववेदत्रय और वेदवैषम्य को स्वीकार करते हुए भाववेद की अपेक्षा तीनों वेदों से, किन्तु द्रव्यवेद की अपेक्षा केवल पुंल्लिङ्ग से ही मुक्ति का प्रतिपादन किया गया है। यह यापनीयमत के विरुद्ध है।

३. आभ्यन्तर और बाह्य दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग अनिवार्य बतलाया गया है, कल्पों की संख्या सोलह तथा अनुदिश नामक नौ स्वर्ग भी स्वीकार किये गये हैं। तीर्थंकरप्रकृतिबन्ध की हेतुभूत सोलह भावनाएँ ही वर्णित हैं, बीस नहीं। इसी प्रकार के और भी अनेक यापनीयमत-विरुद्ध सिद्धान्तों का निरूपण हरिवंशपुराण में उपलब्ध होता है।

४. हरिवंशपुराणकार जिनसेन ने अपने को दिगम्बरगुरुपरम्परा से सम्बद्ध बतलाया है।

५. दिगम्बर-ग्रन्थकारों का ही गुणकीर्तन किया है।

६. हरिवंशपुराण की विषयवस्तु दिगम्बराचार्य-रचित ग्रन्थों से अनुकृत की गयी है।

अध्याय २२—स्वयम्भूकृत पउमचरिउ

पं० नाथूराम प्रेमी ने लिखा है कि पुष्पदन्त ने महापुराण के **स्वयंभू** शब्द के टिप्पण में स्वयंभू को **आपुलीसंघीय** बतलाया है, इसलिए वे यापनीयसम्प्रदाय के अनुयायी जान पड़ते हैं। श्रीमती डॉ० कुसुम पटोरिया का कथन है—"श्री एच० सी० भायाणी भी लिखते हैं कि यद्यपि इस सन्दर्भ में हमें **स्वयंभू** की ओर से कोई प्रत्यक्ष या परोक्ष वक्तव्य नहीं मिलता है, परन्तु यापनीय सग्रन्थ-अवस्था तथा परशासन से भी मुक्ति स्वीकार करते थे और स्वयंभू अधिक उदारचेता थे, अतः इन्हें यापनीय माना जा सकता है।"

श्रीमती पटोरिया ने 'पउमचरिउ' को यापनीयकृति सिद्ध करने लिए उसमें यापनीयमत के किसी भी मौलिक सिद्धान्त का उल्लेख होना नहीं बतलाया, केवल

ऐसी बातों का उल्लेख होना बतलाया है, जो दिगम्बरमत के विरुद्ध हैं, और उन्हें ही यापनीय-सिद्धान्त मान लिया है, जब कि उनके यापनीयसिद्धान्त होने का कोई प्रमाण नहीं है।

डॉ० सागरमल जी ने श्रीमती पटोरिया द्वारा प्रस्तुत हेतुओं के आधार पर ही 'पउमचरिउ' को यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, एक-दो हेतु अपनी तरफ से भी जोड़े हैं। श्रीमती पटोरिया द्वारा बतलाये गये प्रमुख हेतु और उनका निरसन नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है—

१. **हेतु**—पउमचरिउ में राम के लिए प्रयुक्त **पद्म** नाम दिगम्बरपरम्परानुसारी नहीं है। अतः उनके लिए 'पद्म' नाम का प्रयोग करनेवाले रविषेण और स्वयंम्भू यापनीय-परम्परा के सिद्ध होते हैं।

निरसन—दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में **पद्म** और **राम** भिन्न-भिन्न **बलदेवों** के नाम हैं। स्वयं श्वेताम्बराचार्य विमलसूरि ने पद्म और राम को एक-दूसरे से भिन्न बतलाया है, फिर भी उन्होंने राम के लिए 'पद्म' नाम का प्रयोग किया है और दिगम्बराचार्य रविषेण तथा स्वयम्भू ने भी ऐसा ही किया है। इससे सिद्ध होता है कि दिगम्बर-श्वेताम्बर-भेद से पहले जैनपरम्परा में 'पद्म' नाम भी राम के लिए प्रसिद्ध था। यतः यह नाम राम के लिए दिगम्बर-श्वेताम्बर, दोनों परम्पराओं में प्रयुक्त हुआ है, अतः यह यापनीयग्रन्थ का असाधारणधर्म नहीं है। फलस्वरूप यह 'पउमचरिउ' के यापनीय-ग्रन्थ होने का हेतु नहीं है।

२. **हेतु**—देवकी के तीन युगलों के रूप में छह पुत्र कृष्ण के जन्म से पूर्व हुए थे, जिन्हें **हरिणेगमेसि** देव ने सुलसा गाथापत्नी के पास स्थानान्तरित कर दिया था। स्वयंभू के **रिट्ठनेमिचरिउ** का यह कथानक श्वेताम्बर-आगम **अन्तकृतदशा** में यथावत् उपलब्ध होता है। स्वयम्भू द्वारा श्वेताम्बर-आगम का यह अनुसरण उन्हें यापनीय सिद्ध करता है। (जै. ध. या. स. / पृ. १८२)।

निरसन—जिनसेनकृत हरिवंशपुराण, हरिषेणकृत बृहत्कथाकोश तथा गुणभद्रकृत उत्तरपुराण, ये तीनों दिगम्बरग्रन्थ हैं। इनमें भी **नैगमदेव** का देवकी-पुत्रों के रक्षकरूप में उल्लेख है। अतः इसका उल्लेख होना श्वेताम्बरग्रन्थ का असाधारणधर्म नहीं है। इसलिए स्वयम्भू-कृत 'रिट्ठणेमिचरिउ' में इसका उल्लेख होना उसके यापनीयग्रन्थ होने का हेतु नहीं है।

३. **हेतु**—स्वयम्भू ने 'पउमचरिउ' के कथास्रोत का उल्लेख करते हुए क्रमशः महावीर, गौतम, सुधर्म, प्रभव, कीर्ति और रविषेण का उल्लेख किया है। यहाँ श्वेताम्बराचार्य प्रभव को स्थान देना इस मत की पुष्टि करता है कि स्वयंभू यापनीय थे।

डॉ० सागरमल जी ने प्रो० एच० सी० भायाणी के इस वचन के आधार पर कि 'स्वयंभू अधिक उदारचेता थे' एक प्रमुख हेतु यह जोड़ा है कि स्वयम्भू के ग्रन्थों में **अन्यतैर्थिकमुक्ति** की अवधारणा को स्वीकार किया गया है। यह हेतु सर्वथा असत्य है। अतः यह भी 'पउमचरिउ' के दिगम्बरग्रन्थ होने का अपलाप नहीं कर सकता।

इस प्रकार श्रीमती डॉ० कुसुम पटोरिया एवं डॉ० सागरमल जी ने स्वयम्भूकृत पउमचरिउ को यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने के लिए जितने हेतु उपस्थित किये हैं, वे सब निरस्त हो जाते हैं। अब वे प्रमाण प्रस्तुत किये जा रहे हैं जिनसे यह निर्णय होता है कि स्वयम्भूकृत पउमचरिउ दिगम्बरपरम्परा का ही ग्रन्थ है—

१. 'पउमचरिउ' के कथावतार की पद्धति दिगम्बरीय है, श्वेताम्बरीय नहीं। यह उसके दिगम्बरग्रन्थ होने का प्रमाण है।

२. 'पउमचरिउ' में तीर्थंकरमाता मरुदेवी के द्वारा सोलह स्वप्न देखे जाने का वर्णन है। श्वेताम्बरपरम्परा में केवल चौदह स्वप्नों की मान्यता है। यह 'पउमचरिउ' के दिगम्बरग्रन्थ होने का दूसरा प्रमाण है। यापनीयपरम्परा में सोलह स्वप्न मान्य हैं, इसका कोई प्रमाण नहीं है। यापनीय श्वेताम्बर-आगमों को ही मानते थे, अतः उन्हें भी चौदह स्वप्न ही मान्य हो सकते हैं।

३. जिस कैकयी को विमलसूरि ने 'पउमचरियं' में मोक्ष की प्राप्ति बताई है, उसे स्वयम्भू ने मोक्ष की प्राप्ति न बताकर मात्र देवत्व का प्राप्त होना बतलाया है। केवली भगवान् राम सीता के जीव अच्युतेन्द्र को बतलाते हैं कि उसे मनुष्यभव में पुरुषपर्याय से ही मोक्ष की प्राप्ति होगी। पउमचरिउ में ये स्त्रीमुक्तिनिषेध के प्रमाण हैं। इसका एक महत्त्वपूर्ण प्रमाण यह भी है कि सीता की अग्निपरीक्षा के बाद जब राम उनसे घर चलने का आग्रह करते हैं, तब वे विनम्रतापूर्वक अस्वीकार कर देती हैं और कहती हैं कि अब मैं ऐसा काम करना चाहती हूँ, जिससे मुझे दुबारा स्त्री न बनना पड़े, मैं जन्म, जरा और मरण का अन्त करूँगी। स्त्रीमुक्तिनिषेध के ये उल्लेख स्वयम्भू के दिगम्बर होने के अकाट्य प्रमाण हैं।

४. 'पउमचरिउ' में परशासन से मुक्ति का प्रतिपादन नहीं, बल्कि निषेध किया गया है। इसका प्रमाण यह है कि जब जिनवचनों से विमुख राजा स्वयंभू जिनधर्मानुयायी श्रीभूति से उसकी वेदवती नामक कन्या को माँगता है, तब श्रीभूति कहता है मैं अपनी सोने जैसी बेटी मिथ्यादृष्टि को कैसे दे दूँ? इससे स्पष्ट है कि पउमचरिउ के कर्ता स्वयंभू जिनशासन न माननेवाले को मिथ्यादृष्टि मानते हैं और मिथ्यादृष्टि मोक्ष का अधिकारी नहीं है, इससे सिद्ध है कि वे परशासन से मुक्ति के समर्थक नहीं हैं। यह उनके दिगम्बर होने का एक और प्रमाण है।

५. स्वयंभू सग्रन्थ अवस्था से भी मुक्ति के समर्थक नहीं हैं। 'पउमचरिउ' में सग्रन्थमुक्ति के उल्लेख का एक भी उदाहरण नहीं है। पुरुषों के द्वारा सर्वत्र निर्ग्रन्थदीक्षा लिये जाने का ही वर्णन है और निर्ग्रन्थ का अर्थ वस्त्ररहित ही बतलाया गया है।

६. 'पउमचरिउ' में कहा गया है कि भगवान् ऋषभदेव ने चौदह गुणस्थानों पर आरूढ़ होते हुए मोक्ष प्राप्त किया था तथा अपनी दिव्यध्वनि से भी गुणस्थानों का उपदेश दिया था। यह कथन श्वेताम्बर और यापनीय मतों के विरुद्ध है, क्योंकि उनमें गुणस्थानसिद्धान्त मान्य नहीं है।

इन प्रमाणों से दो टूक निर्णय हो जाता है कि स्वयम्भूकृत पउमचरिउ दिगम्बर-परम्परा का ही ग्रन्थ है।

अध्याय २३—बृहत्कथाकोश

यह दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ है, क्योंकि इसमें स्त्रीमुक्ति, सवस्त्रमुक्ति, गृहस्थमुक्ति और अन्यलिंगिमुक्ति का, जो यापनीयमत के सिद्धान्त हैं, स्पष्टतः निषेध किया गया है। (देखिये, अध्याय २३)। फिर भी श्रीमती डॉ० कुसुम पटोरिया और डॉ० सागरमल जी ने इस ग्रन्थ को यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ माना है, क्योंकि उनके अनुसार इसमें स्त्रीमुक्ति और गृहस्थमुक्ति का प्रतिपादन है। इसके समर्थन में उनके द्वारा उपस्थित किये गये हेतुओं का निरसन आगे किया जा रहा है—

१. **हेतु**—बृहत्कथाकोशगत 'अशोकरोहिणी-कथानक' (क्र.५७) के निम्नलिखित श्लोक में स्त्रीमुक्ति का प्रतिपादन किया गया है—

एवं करोति यो भक्त्या नरो रामा महीतले।
लभते केवलज्ञानं मोक्षं च क्रमतः स्वयम्॥ २३५॥

अनुवाद—"इस विधि से जो पुरुष या स्त्री भक्तिपूर्वक रोहिणीव्रत (रोहिणी नक्षत्र में उपवास) का अनुष्ठान करती है, उसे क्रम से केवलज्ञान और मोक्ष प्राप्त होता है।"

निरसन—यहाँ **क्रमतः** (क्रम से अर्थात् परम्परया) शब्द का प्रयोग महत्त्वपूर्ण है। इस शब्द का प्रयोग कर स्त्री की तद्भवमुक्ति का निषेध किया गया है और **रोहिणीव्रत** के अनुष्ठान द्वारा अर्जित पुण्य से स्वर्ग में देवपद की प्राप्ति तथा वहाँ से च्युत होकर मनुष्यभव में पुरुषपद प्राप्त कर संयम की साधना द्वारा मोक्ष प्राप्ति का कथन किया गया है।

इसी वचन के अनुसार 'अशोक रोहिणी-कथानक' की नायिका पूतिगन्धा को पहले रोहिणीव्रत एवं श्राविकाव्रत के फलस्वरूप अच्युतस्वर्ग के देव की महादेवी और

उसके बाद राजा अशोक की **रोहिणी** नामक महारानी होते हुए बतलाया गया है। तत्पश्चात् आर्यिकादीक्षा लेकर दुष्कर तप एवं सल्लेखनाविधि से देहत्याग करने पर वह देवगति एवं पुरुषवेद का बन्ध कर अच्युतस्वर्ग में दिव्यबुन्दीधर देव होती है। इस तरह वह सम्यग्दृष्टि देव की उस भूमिका में आ जाती है, जहाँ से च्युत होकर उसका मनुष्यगति में पुरुष होना अनिवार्य है। इससे उसके लिए दैगम्बरी दीक्षा लेकर मुक्ति प्राप्त करने का द्वार खुल जाता है। (देखिये, अशोक-रोहिणी-कथानक / श्लोक ४५९-४६०, ४६५-४६६, ५८२-५८४)।

इसी क्रम से रुक्मिणी के भी मोक्ष पाने का वर्णन बृहत्कथाकोश के 'लक्ष्मीमती-कथानक' (क्र. १०८/श्लोक १२४-१२६) में किया गया है। सम्पूर्ण बृहत्कथाकोश में स्त्रीपर्याय से पुरुषपर्याय प्राप्त करके ही मोक्ष होने का कथन है, किसी भी स्त्री की तद्भवमुक्ति का कथन नहीं है। इससे स्पष्ट है कि उपर्युक्त यापनीयपक्षधर विदुषी एवं विद्वान् ने **क्रमतः** शब्द की अनदेखी कर और पूतिगन्धा (रोहिणी) तथा रुक्मिणी के स्त्रीपर्याय को छोड़कर पुरुषपर्याय पाने के कथनों को ताक पर रखकर हल्ला मचाया है कि बृहत्कथाकोश में स्त्रीमुक्ति का प्रतिपादन है, इसलिए वह यापनीयग्रन्थ है। उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि वह यापनीयग्रन्थ नहीं, अपितु दिगम्बरग्रन्थ है।

२. **हेतु**—बृहत्कथाकोश में रुक्मिणी को तीर्थंकरगोत्र का बन्ध होना बतलाया गया है—'**बद्ध्वा तीर्थङ्करं गोत्रं**' (लक्ष्मीमतीकथानक / क्र.१०८ / श्लोक १२५)। यह दिगम्बरमत के प्रतिकूल और श्वेताम्बर तथा यापनीय मतों के अनुकूल है। इससे सिद्ध है कि बृहत्कथाकोश यापनीयग्रन्थ है।

निरसन—यह सत्य है कि स्त्री को तीर्थंकरनामकर्म के बन्ध का उल्लेख दिगम्बर-मत के प्रतिकूल है, तथापि रुक्मिणी की मुक्ति स्त्रीपर्याय से न बतलाकर पुरुषपर्याय से बतलायी गयी है और भविष्य में उसके तीर्थंकर होने का भी कथन नहीं किया गया है। यह तथ्य इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि रुक्मिणी के तीर्थंकरप्रकृतिबन्ध का कथन या तो प्रक्षिप्त है अथवा सिद्धान्तग्रन्थों के गहन अनुशीलन के अभाव में हरिषेण ने अनभिज्ञतावश वैसा लिख दिया है। किन्तु उनके द्वारा स्त्रीपर्याय से मुक्ति का निषेध इस बात का अकाट्य प्रमाण है कि बृहत्कथाकोश यापनीयपरम्परा का नहीं, अपितु दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ है।

३. **हेतु**—अशोक-रोहिणी-कथानक (क्र.५७ / श्लोक ५८२) में रोहिणी महारानी के द्वारा सर्वपरिग्रहत्याग किये जाने का उल्लेख है। यह दिगम्बरमत के अनुकूल नहीं है, अपितु श्वेताम्बर और यापनीय मतों के अनुकूल है। अतः बृहत्कथाकोश यापनीयग्रन्थ है।

निरसन—दिगम्बरग्रन्थ भगवती-आराधना की **'इत्थीवि य जं लिंगं दिट्ठं'** इत्यादि गाथा (८०) और उसकी विजयोदयाटीका में आर्यिकाओं के एकसाड़ीरूप अल्पपरिग्रहात्मक लिंग को सर्वपरिग्रहत्यागरूप उत्सर्गलिंग कहा गया है। (देखिये, अध्याय १३/प्र.३ / शी.५)। अतः रोहिणी महारानी के द्वारा सर्वपरिग्रहत्याग किये जाने का उल्लेख दिगम्बरमत के सर्वथा अनुकूल है। इसलिए बृहत्कथाकोश यापनीयग्रन्थ सिद्ध नहीं होता।

४. **हेतु**—अशोक-रोहिणी-कथानक के निम्नलिखित श्लोक में गृहस्थमुक्ति का कथन है, जो यापनीयमत का सिद्धान्त है—

अणुव्रतधरः कश्चिद् गुणशिक्षाव्रतान्वितः।
सिद्धिभक्तो व्रजेत्सिद्धिं मौनव्रतसमन्वितः॥ ५६७॥

अनुवाद—''कोई सिद्धिभक्त (सिद्धि चाहनेवाला) अणुव्रतादिधारी श्रावक भी यदि मौनव्रत की साधना करता है, तो वह सिद्धि को प्राप्त होता है।''

निरसन—यहाँ 'सिद्धि' का अर्थ 'मोक्ष' नहीं है, अपितु 'इच्छित लौकिक पदार्थ की प्राप्ति' है। मोक्षरूप सिद्धि की प्राप्ति तो जैनेन्द्रीदीक्षा (दैगम्बरी दीक्षा) लेने से बतलायी गयी है—''**दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं सिद्धिं याति स नीरजाः**'' (अशोक-रोहिणी-कथानक / क्र.५७ / श्लोक ५५८)। 'यशोधर-चन्द्रमती-कथानक' (क्र. ७३ / श्लोक २३७-२३८, २९९) में सुदत्त मुनि दो राजकुमारों को पहले क्षुल्लकदीक्षा देते हैं, पश्चात् दैगम्बरीदीक्षा। इससे सिद्ध है कि हरिषेण क्षुल्लकदीक्षा से भी मोक्ष की प्राप्ति संभव नहीं मानते, तब गृहस्थ-अवस्था से मुक्ति मानने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। हरिषेण ने बृहत्कथाकोश के 'भद्रबाहुकथानक (क्र.१३१ / श्लोक ६२-६८) में श्वेताम्बर-स्थविर-कल्प (सचेललिंग) को शिथिलाचारी अर्धफालक साधुओं के द्वारा कल्पित बतलाते हुए वस्त्रधारण को मुक्ति में बाधक एवं नग्नत्व को मुक्ति का साधक सिद्ध किया है। इन प्रमाणों से सिद्ध है कि हरिषेण को गृहस्थमुक्ति कदापि मान्य नहीं है। अतः उपर्युक्त **'अणुव्रतधरः कश्चिद्'** इत्यादि श्लोक बृहत्कथाकोश के यापनीयग्रन्थ होने का हेतु नहीं है।

५. **हेतु**—बृहत्कथाकोशगत 'अशोक-रोहिणी-कथानक' (क्र.५७) के निम्न-लिखित श्लोक में समस्त संघ को वस्त्रादिदान करने का उपदेश दिया गया है—

ततः समस्तसङ्घस्य देहिभिर्भक्तितत्परैः।
देयं वस्त्रादिदानं च कर्मक्षयनिमित्ततः॥ ५५४॥

समस्त संघ में मुनि भी आ जाते हैं, अतः मुनियों के लिए वस्त्रदान का उल्लेख होने से बृहत्कथाकोश में सवस्त्रमुक्ति को मान्यता दी गयी है। अतः यह यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ है।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

निरसन—इसी 'अशोक-रोहिणी-कथानक' के एक पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया है कि रोहिणीव्रत की समाप्ति पर चतुर्विधसंघ को यथायोग्य आहार, औषधि और वस्त्रादि का दान करना चाहिए—

पश्चादाहारदानं च भेषजं वसनादिकम्।
चतुर्विधस्य सङ्घस्य यथायोग्यं विधीयते॥ २३४॥

यहाँ **यथायोग्य** शब्द के प्रयोग से स्पष्ट हो जाता है कि जो जिस वस्तु के दान के योग्य है, उसे उसी का दान किया जाना चाहिए। हरिषेण ने स्वयं श्रमणों को नग्नरूपी कहा है-'**श्रमणा नग्नरूपिणः**' (बृहत्कथाकोश / विष्णुकुमार-कथानक / क्र.११ / श्लोक ९)। अतः उनके अनुसार मुनियों को केवल आहार, भेषज, शास्त्र, वसतिका एवं अभय का दान किया जाना चाहिए। वस्त्रदान के पात्र केवल आर्यिकाएँ, क्षुल्लक-क्षुल्लिकाएँ तथा एलक हैं। यह बात हरिषेण ने 'अशोक-रोहिणी-कथानक' (क्र.५७) के निम्नलिखित श्लोकों में स्पष्ट कर दी है—

पञ्चमीपुस्तकं दिव्यं पञ्चपुस्तकसंयुतम्।
साधुभ्यो दीयते भक्त्या भेषजं च यथोचितम्॥ ५३५॥

आहारदानमादेयं भक्तितो भेजषजादिकम्।
वस्त्राणि चार्यिकादीनां दातव्यानि मुमुक्षिभिः॥ ५३६॥

अनुवाद—''मुमुक्षुओं के द्वारा रोहिणीव्रत की समाप्ति पर साधुओं को पाँच पुस्तकों-सहित पञ्चमी पुस्तक, भेषज एवं आहार का दान किया जाना चाहिए तथा आर्यिका आदि को वस्त्र भी दिये जाने चाहिए।''

इससे स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त '**ततः समस्तसङ्घस्य**' इत्यादि श्लोक (५५४) में मुनियों के लिए वस्त्रदान का कथन नहीं है। अतः उसमें मुनियों को वस्त्रदान का कथन मानकर बृहत्कथाकोश को यापनीयग्रन्थ कहना उसका सम्यक् अध्ययन न करने का परिणाम है। बृहत्कथाकोश में सवस्त्रमुक्तिनिषेध के प्रचुर उल्लेख हैं। (देखिये, अध्याय २३ / शीर्षक ३)। उन पर भी ध्यान नहीं दिया गया।

६. **हेतु**—बृहत्कथाकोश की कथाएँ यापनीयग्रन्थ भगवती-आराधना पर आधारित हैं, अतः बृहत्कथाकोश भी यापनीयग्रन्थ है।

निरसन—भगवती-आराधना दिगम्बरग्रन्थ है, यह त्रयोदश अध्याय में सिद्ध किया जा चुका है। अतः इस आधार पर भी बृहत्कथाकोश दिगम्बरग्रन्थ ही सिद्ध होता है।

७. **हेतु**—हरिषेण पुन्नाटसंघीय थे और पुन्नाटसंघ यापनीयसंघ के अन्तर्गत था। अतः बृहत्कथाकोश यापनीयग्रन्थ है।

निरसन—पुन्नाटसंघ दिगम्बरसंघ के अन्तर्गत था, इस के प्रमाण **हरिवंशपुराण** नामक २१वें अध्याय (प्र.२/ शी.१) में प्रस्तुत किये जा चुके हैं।

८. **हेतु**—सम्पूर्ण बृहत्कथाकोश में यापनीयमत के सिद्धान्तों का प्रतिपादन है, केवल उसके 'भद्रबाहुकथानक' (क्र.१३१) में काम्बलतीर्थ (श्वेताम्बरसम्प्रदाय) से यापनीयसंघ की उत्पत्ति बतलानेवाला '**ततः काम्बलिकात्तीर्थान्नूनं**' इत्यादि श्लोक (८१) यापनीयमत-विरोधी है, अतः वह प्रक्षिप्त है।

निरसन—बृहत्कथाकोश में केवल उपर्युक्त श्लोक ही यापनीयमत-विरोधी नहीं है, अपितु सम्पूर्ण ग्रन्थ यापनीयमत-विरोधी सिद्धान्तों से भरा हुआ है। अतः उपर्युक्त श्लोक को प्रक्षिप्त मान लेने पर भी अन्य यापनीयमत-विरोधी सिद्धान्तों जैसे स्त्रीमुक्ति-निषेध, सवस्त्रमुक्तिनिषेध, गृहस्थमुक्तिनिषेध आदि की उपलब्धि बृहत्कथाकोश को यापनीयग्रन्थ सिद्ध नहीं होने देती। बृहत्कथाकोश में इन यापनीयमत-विरुद्ध सिद्धान्तों की उपलब्धि के प्रमाण प्रस्तुत ग्रन्थ के २३वें अध्याय में द्रष्टव्य हैं।

अध्याय २४—छेदपिण्ड, छेदशास्त्र एवं प्रतिक्रमण-ग्रन्थत्रयी

ये तीनों दिगम्बरपरम्परा के ग्रन्थ हैं, क्योंकि इनमें मुनियों के लिए वे ही २८ मूलगुण आवश्यक बतलाये गये हैं, जो दिगम्बरग्रन्थ 'प्रवचनसार' और 'मूलाचार' में निर्दिष्ट हैं। इनमें आचेलक्य प्रमुख मूलगुण है। यापनीयपरम्परा में यह मूलगुण नहीं माना गया है, क्योंकि इसके बिना भी इस परम्परा में मुनिपद की प्राप्ति एवं मुक्ति संभव बतलायी गयी है।

छेदपिण्ड

छेदपिण्ड में मुनियों के लिए दिगम्बरमान्य २८ मूलगुणों का पालन अनिवार्य बतलाया गया है और अचेलव्रत को भंग करने पर प्रायश्चित्त का विधान करते हुए कहा गया है—"जो मुनि किसी के द्वारा उपसर्ग किये जाने पर अथवा किसी रोग से ग्रस्त हो जाने पर अथवा दर्प के कारण गृहस्थ का अथवा अन्यतीर्थिक का लिंग (वेश) ग्रहणकर अचेलव्रत को भंग करता है, उसे क्रमशः 'खमण' (उपवास), 'षष्ठ' (छह भुक्तियों का त्याग) तथा 'मूल' नामक प्रायश्चित्त दिया जाना चाहिए।" (गाथा १२४-१२५)।

ऐसे ही प्रायश्चित्त का विधान 'छेदपिण्ड' की ६१वीं और ६२वीं गाथाओं में भी किया गया है। यथा—"जो निर्ग्रन्थव्रतधारी एक बड़ी कौड़ी, छोटी कौड़ी या पाँच

प्रकार के वस्त्रों (कोशज, कार्पासज, वल्कज, रोमज तथा चर्मज) में से किसी भी वस्त्र का अल्पपरिग्रह भी ग्रहण करता है, वह आलोचना, कायोत्सर्ग, नियमयुक्त उपवास तथा सप्रतिक्रमण उपवास का पात्र है।''

इस प्रकार 'छेदपिण्ड' में किसी रोग के होने पर भी मुनि का वस्त्रग्रहण आचेलक्य-मूलगुण या अपरिग्रहमहाव्रत के भंग का कारण होने से प्रायश्चित के योग्य माना गया है, जब कि यापनीयसम्प्रदाय में लज्जा या शीतादि के सहन में असमर्थ होने पर भी वस्त्रग्रहण की छूट है। इससे सिद्ध है कि 'छेदपिण्ड' दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ है।

फिर भी डॉ० सागरमल जी ने छेदपिण्ड, छेदशास्त्र एवं प्रतिक्रमण-ग्रन्थत्रयी को यापनीयसम्प्रदाय के साहित्य में सम्मिलित किया है। उन्होंने छेदपिण्ड को यापनीयग्रन्थ मानने के पक्ष में जो हेतु प्रस्तुत किये हैं, उनका निरसन नीचे किया जा रहा है—

१. **हेतु**—इसमें श्रमणियों के लिए वे ही प्रायश्चित्त हैं, जो श्रमणों के लिए हैं। श्रमणियों के लिए मात्र पर्यायछेद, मूल, परिहार, दिनप्रतिमा और त्रिकालयोग नामक प्रायश्चितों का निषेध है। श्रमणों और श्रमणियों की इस समानता का प्रतिपादन छिदपिण्ड के यापनीयग्रन्थ होने का सूचक है।

निरसन—श्रमणियों के लिए जो पयार्यछेद, मूल, परिहार, दिनप्रतिमा और त्रिकालयोग नामक प्रायश्चित्तों का निषेध है, उससे सिद्ध होता है कि छेदपिण्ड ग्रन्थ में श्रमणियों को साधना की दृष्टि से श्रमणों के तुल्य स्वीकार नहीं किया गया है। यह उनके तद्भवमुक्ति-योग्य न होने की घोषणा है। अतः छेदपिण्ड यापनीयग्रन्थ नहीं है।

२. **हेतु**—छेदपिण्ड के कर्त्ता इन्द्रनन्दी काणूरगण के थे। काणूरगण यापनीयसंघ का गण था। अतः इन्द्रनन्दी यापनीयसम्प्रदाय के आचार्य थे। इससे सिद्ध है कि छेदपिण्ड यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ है।

निरसन—काणूरगण दिगम्बरसंघ (मूलसंघ) का ही गण था। यह **यापनीयसंघ का इतिहास** नामक सप्तम अध्याय (प्र.३/शी.४) में सप्रमाण दर्शाया गया है। अतः छेदपिण्ड दिगम्बरपरम्परा का ही ग्रन्थ है।

३. **हेतु**—आचार्य रविषेण ने पद्मचरित (पद्मपुराण) में अपनी गुरुपरम्परा में इन्द्र का उल्लेख किया है। रविषेण यापनीय थे, इसलिए उनके गुरु छेदपिण्डकर्त्ता इन्द्र का भी यापनीय होना स्वाभाविक है।

निरसन—रविषेण दिगम्बराचार्य थे, यह १९वें अध्याय में प्रमाणित किया जा चुका है। अतः यदि उनके गुरुओं के गुरु इन्द्र 'छेदपिण्ड' के कर्त्ता थे, तो उनका भी दिगम्बर होना सुनिश्चित है। इस प्रकार भी 'छेदपिण्ड' दिगम्बराचार्यकृत ही सिद्ध होता है।

४. **हेतु**—यापनीयसंघी पाल्यकीर्ति शाकटायन ने अपने सूत्रपाठ में इन्द्र का उल्लेख किया है। पाल्यकीर्ति यापनीय थे, अतः उनके गुरु इन्द्र भी यापनीय रहे होंगे।

निरसन—ये यापनीय हो सकते हैं, किन्तु 'छेदपिण्ड' के कर्त्ता नहीं, क्योंकि उसमें मुनियों के दिगम्बरसम्मत २८ मूलगुणों का वर्णन है, जो यापनीयमत के विरुद्ध है।

५. **हेतु**—गोम्मटसार के कर्त्ता आचार्य नेमिचन्द्र ने कर्मकाण्ड की गाथा क्र. ७८५ में इन्द्रनन्दी गुरु को नमस्कार किया है। संभवतः ये ही यापनीयसंघी और छेदपिण्ड के कर्त्ता थे।

निरसन—गोम्मटसार के कर्त्ता आचार्य नेमिचन्द्र ने जिन इन्द्रनन्दी गुरु को प्रणाम किया है, यदि उन्हें 'छेदपिण्ड' का कर्त्ता स्वीकार किया जाय, तो वे यापनीय किसी भी हालत में सिद्ध नहीं होते, क्योंकि दिगम्बर आचार्य नेमिचन्द्र का एक जैनाभासी (मिथ्यादृष्टि) को नमस्कार करना कभी भी संभव नहीं है।

६. **हेतु**—'छेदपिण्ड' में अनेक स्थलों पर 'कल्पव्यवहार' का निर्देश है। इस श्वेताम्बरीय ग्रन्थ के अनुसरण से सिद्ध है कि छेदपिण्ड यापनीयकृति है।

निरसन—कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प, प्रतिक्रमण आदि अंगबाह्य-श्रुत-सम्बन्धी ग्रन्थों का उल्लेख दिगम्बरग्रन्थों में भी है। 'छेदपिण्ड' में जिस 'कल्पव्यवहार' ग्रन्थ का उल्लेख है, वह श्वेताम्बरीय ग्रन्थ नहीं है, अपितु तन्नामक दिगम्बरग्रन्थ ही है, क्योंकि जिन श्वेतपटश्रमणों को छेदपिण्ड (गाथा २८) में पाषण्ड (मिथ्याधर्मप्ररूपक) संज्ञा दी गई हो, उन्हीं श्रमणों के लिए मान्य ग्रन्थ से किसी भी सामग्री का ग्रहण किया जाना संभव नहीं है। इससे सिद्ध है कि 'छेदपिण्ड' यापनीयकृति नहीं है।

७. **हेतु**—छेदपिण्ड और मूलाचार, दोनों की परम्परा समान प्रतीत होती है। यतः मूलाचार यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ है, अतः छेदपिण्ड भी इसी परम्परा का है।

निरसन—मूलाचार दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ है, यह १५वें अध्याय में सिद्ध किया जा चुका है। अतः छेदपिण्ड भी इसी परम्परा का ग्रन्थ सिद्ध होता है।

८. **हेतु**—छेदपिण्ड की गाथा ३०३ में स्पष्टरूप से कहा गया है कि 'देशयति' को संयत के प्रायश्चित्त का आधा देना चाहिए। 'देशयति' शब्द के प्रयोग से यह

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

प्रतीत होता है कि यह परम्परा एलक और क्षुल्लक को उत्कृष्ट श्रावक न मानकर श्रमणवर्ग के ही अन्तर्गत रखती है। यह छेदपिण्ड के यापनीयग्रन्थ होने का प्रमाण है।

निरसन—छेदपिण्ड की गाथा क्र. ३०३ में 'देशयति' शब्द 'देशविरत' (श्रावक) के ही अर्थ में प्रयुक्त है, 'श्रमण' के अर्थ में नहीं, यह उक्त गाथा और उसकी उत्तरवर्ती गाथाओं के विवरण से स्पष्ट हो जाता है। उत्तरवर्ती गाथाओं क्र. ३०५ एवं ३०६ में 'देशयति' के स्थान में 'देसविरदाणं' (देशविरतानां) शब्द का प्रयोग कर यह बात स्पष्ट कर दी गयी है। अतः छेदपण्डि यापनीयग्रन्थ नहीं, अपितु दिगम्बरग्रन्थ है।

छेदशास्त्र

इस ग्रन्थ की विषयवस्तु 'छेदपिण्ड' पर ही आधारित है। इसमें मुनियों के वे ही दिगम्बरमान्य २८ मूलगुण वर्णित हैं, जो छेदपिण्ड में वर्णित हैं तथा 'आचेलक्य' मूलगुण को भंग करने पर उन्हीं प्रायश्चित्तों का विधान किया गया है, जिनका छेदपिण्ड में है। डॉ० सागरमल जी ने भी स्वीकार किया है कि 'यदि इसे छेदपिण्ड का ही एक संक्षिप्तरूप कहा जाय, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।' (जै.ध.या.स./पृ.१५४)। अतः डॉ० सागरमल जी ने जिन कारणों से छेदपिण्ड को यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ माना है, उन्हीं कारणों से छेदशास्त्र को भी माना है। किन्तु यह ऊपर सिद्ध किया जा चुका है कि छेदपिण्ड दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ है। अतः छेदपिण्ड का ही संक्षिप्तरूप होने से यह स्वतः सिद्ध है कि छेदशास्त्र भी दिगम्बरपरम्परा का ही ग्रन्थ है।

प्रतिक्रमण-ग्रन्थत्रयी

इसे **आवश्यक** (**प्रतिक्रमणसूत्र**) शीर्षक से निर्दिष्ट करते हुए डॉ० सागरमल जी 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' (पृ.१६०-१६५) ग्रन्थ में लिखते हैं कि वह उन्हें निम्नलिखित कारणों से यापनीय-परम्परा का ग्रन्थ प्रतीत होता है—

१. इसकी विषयवस्तु का लगभग ८० प्रतिशत भाग वही है, जो श्वेताम्बरपरम्परा के आवश्यकसूत्र में हैं।

२. इसके टीकाकार प्रभाचन्द्र यापनीय थे।

३. इसमें 'रात्रिभोजन-विरमण' को सर्वत्र छठे व्रत या अणुव्रत के रूप में उल्लिखित किया गया है। यह मान्यता श्वेताम्बरों में और भगवती-आराधना आदि यापनीयग्रन्थों में मिलती है।

४. इसमें श्वेताम्बर-आगम 'ज्ञाताधर्मकथांग' एवं 'सूत्रकृतांग' की गाथाएँ और विषयवस्तु प्राप्त होती है।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

५. इसमें श्वेताम्बरीय दशवैकालिकसूत्र के प्रथम अध्याय की प्रथम गाथा उल्लिखित है।

वास्तविकता यह है कि इनमें से एक भी हेतु 'प्रतिक्रमण-ग्रन्थत्रयी' को यापनीय-ग्रन्थ सिद्ध करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि उसमें ऐसे सिद्धान्तों को मान्यता दी गयी है, जो यापनीयमत के सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति और परशासनमुक्ति, इन मौलिक सिद्धान्तों के विरुद्ध हैं। यथा—

१. 'प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी' (पृ.११५) में आचेलक्य आदि २८ गुण मुनि के मूलगुण अर्थात् आधारभूत, अनिवार्य गुण कहे गये हैं, जिससे मुनि के लिए आपवादिक सचेललिंग का निषेध हो जाता है, जब कि यापनीयमत में आपवादिक सचेललिंग मान्य है।

२. मोक्ष के लिए पाँच महाव्रतों का पालन आवश्यक बतलाया गया है, जिनमें अपरिग्रह महाव्रत के अन्तर्गत सूती, ऊनी, रेशमी आदि किसी भी प्रकार के वस्त्र का एक धागा भी रखने का निषेध किया गया है। (पृ.१२९-१३०)। इससे स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति एवं परतीर्थिकमुक्ति का निषेध हो जाता है, जो यापनीयमत के विरुद्ध है।

३. वस्त्र, भाण्ड (वर्तन) आदि दश प्रकार के बाह्य ग्रन्थ और मिथ्यात्वादि चौदह प्रकार के अभ्यन्तर ग्रन्थ, इन दोनों प्रकार के ग्रन्थों से रहित मनुष्य को **निर्ग्रन्थ** नाम दिया गया है (पृ.६१-६२) और कहा गया है कि सर्वज्ञप्रणीत आगम में निर्ग्रन्थलिंग को ही मोक्ष का हेतु बताया गया है। (पृ.६४-६९)। इससे सभी तरह के वस्त्रधारी स्त्री-पुरुषों की मुक्ति अमान्य हो जाती है, जब कि यापनीयमत में वस्त्रधारी स्त्री-पुरुषों की मुक्ति स्वीकार की गयी है।

४. अन्य मतों और अन्य लिगों की प्रशंसा को अर्थात् उन्हें मोक्षमार्ग बतलाने को दर्शनाचार का परित्याग कहा गया है। (पृ.१६०-१६१)। यह यापनीयों के परशासन-मुक्ति के सिद्धान्त के विरुद्ध है।

प्रतिक्रमण-ग्रन्थत्रयी में इन यापनीयमत-विरुद्ध सिद्धान्तों का प्रतिपादन है, अतः सिद्ध है कि वह यापनीयग्रन्थ नहीं, अपितु दिगम्बरग्रन्थ है। इसलिए डॉ० सागरमल जी ने उसे यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने के लिए जो हेतु सामने रखे हैं, वे असत्य हैं, अर्थात्—

१. भले ही प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी की विषयवस्तु का लगभग ८० प्रतिशत भाग श्वेताम्बरीय आवश्यकसूत्र से समानता रखता हो, किन्तु वह उससे गृहीत नहीं है, अपितु वह उस मूल निर्ग्रन्थपरम्परा से आया है, जो वर्तमान में दिगम्बरपरम्परा कहलाती है तथा जिससे श्वेताम्बर-परम्परा का उद्भव हुआ है। उसी से वे गाथाएँ आयी हैं, जिनका ज्ञाताधर्मकथांग, सूत्रकृतांग एवं दशवैकालिकसूत्र की गाथाओं से साम्य है। अतः

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

उक्त सामग्री श्वेताम्बरग्रन्थों से गृहीत न होने के कारण प्रतिक्रमण-ग्रन्थत्रयी यापनीयग्रन्थ नहीं है।

२. यतः प्रतिक्रमण-ग्रन्थत्रयी में प्रतिपादित विषय यापनीयमत-विरुद्ध है, अतः उसके टीकाकार प्रभाचन्द्र यापनीय नहीं हो सकते।

३. रात्रिभोजनविरमण को सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराजवार्तिक, विजयोदयाटीका आदि दिगम्बरपरम्परा के ग्रन्थों में भी छठे व्रत के रूप में वर्णित किया गया है। (देखिये, अध्याय १४/प्र.२/शी.७)। अतः उसके उल्लेख से प्रतिक्रमण-ग्रन्थत्रयी यापनीयग्रन्थ सिद्ध नहीं होता।

इस प्रकार इस बात में सन्देह के लिए कोई स्थान नहीं रहता कि प्रतिक्रमण-ग्रन्थत्रयी दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ है।

अध्याय २५—बृहत्प्रभाचन्द्रकृत तत्त्वार्थसूत्र

डॉ० सागरमल जी जैन ने बृहत्प्रभाचन्द्रकृत तत्त्वार्थसूत्र को केवल इसलिए यापनीयग्रन्थ माना है कि इसके अन्त में **इति जिनकल्पिसूत्रं समाप्तम्** लिखा है। उनके अनुसार यापनीयमत जिनकल्प (अचेललिंग) और स्थविरकल्प (सचेललिंग) में से जिनकल्प पर जोर देता था, उसी को सूचित करने के लिए यापनीय-आचार्य बृहत्प्रभाचन्द्र ने तत्त्वार्थसूत्र को 'जिनकल्पिसूत्र' नाम दिया है। डॉक्टर सा० की मान्यता है कि दिगम्बरपरम्परा में तो जिनकल्प और स्थविरकल्प मान्य ही नहीं है, अतः यह **जिनकल्पिसूत्र** दिगम्बरपरम्परा का नहीं है और श्वेताम्बरपरम्परा स्थविरकल्प को प्रधानता देती है, इसलिए वह श्वेताम्बरपरम्परा का भी नहीं है। (जै. ध. या. स./पृ. २०७)।

बृहत्प्रभाचन्द्रकृत तत्त्वार्थसूत्र को यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने के लिए डॉक्टर सा० द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त हेतु सर्वथा असत्य है। निम्नलिखित प्रमाणों से सिद्ध होता है कि वह यापनीयग्रन्थ नहीं, अपितु दिगम्बरग्रन्थ है—

१. दिगम्बरपरम्परा में भी जिनकल्प और स्थविरकल्प मान्य हैं, किन्तु दोनों अचेललिंगी हैं। अन्तर केवल तप में है। (देखिये, अध्याय २/प्र.३/शी.३.२ एवं अध्याय १४/प्र.२/शी.८)। तथापि बृहत्प्रभाचन्द्र ने तत्त्वार्थसूत्र को 'जिनकल्पिसूत्र' नाम श्वेताम्बर-मान्य सचेल-स्थविरकल्प के प्रतिपक्षी अचेल-जिनलिंग की दृष्टि से दिया है। अर्थात् वे यह सूचित करना चाहते थे कि 'तत्त्वार्थसूत्र' जिनलिंगधारी (दिगम्बर) मुनियों के आचार का वर्णन करनेवाला ग्रन्थ है, सचेल-स्थविरकल्पी साधुओं के आचार का वर्णन करनेवाला नहीं।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

२. उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि के लिए बृहत्प्रभाचन्द्र ने अपने तत्त्वार्थसूत्र में एक नये सूत्र का समावेश किया है, वह है '**श्रमणानामष्टाविंशतिर्मूलगुणाः**' (७/५) अर्थात् श्रमणों के २८ मूलगुण होते हैं। इनमें एक 'अचेलत्व' मूलगुण भी है, जो यापनीयमत में मूलगुण के रूप में मान्य नहीं है, क्योंकि उसमें अपवादरूप से वस्त्रधारण करनेवाला भी मुनि कहला सकता है और उस मत के अनुसार वह मोक्ष भी प्राप्त कर सकता है।

३. एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि बृहत्प्रभाचन्द्र ने अपने तत्त्वार्थसूत्र में उन परीषहसूत्रों को स्थान नहीं दिया, जो गृध्रपिच्छाचार्य-कृत तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित हैं, क्योंकि उनमें '**एकादश जिने**' सूत्र है, जिसे श्वेताम्बराचार्यों ने केवलि-कवलाहार का प्रतिपादक बतलाकर गृध्रपिच्छाचार्य-कृत तत्त्वार्थसूत्र को श्वेताम्बरपरम्परा का ग्रन्थ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इससे सिद्ध है कि बृहत्प्रभाचन्द्र दिगम्बर थे। यदि वे यापनीय होते, तो अपने तत्त्वार्थसूत्र में परीषहसूत्रों को अवश्य रखते, क्योंकि '**एकादश जिने**' सूत्र के आधार पर वे श्वेताम्बरों के समान केवली को कवलाहारी सिद्ध कर सकते थे।

ये तीन हेतु इस तथ्य के अखण्ड्य प्रमाण हैं कि बृहत्प्रभाचन्द्रकृत तत्त्वार्थसूत्र यापनीयपरम्परा का नहीं, अपितु दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ है।

यहाँ **ग्रन्थसार** समाप्त होता है, इन प्रमाणसिद्ध तीन निर्णयों के साथ कि १. दिगम्बरजैनपरम्परा ईसाकाल, वैदिककाल और सिन्धुसभ्यताकाल, इन सभी से प्राचीन है। वह वैदिक-पुराणों के अनुसार द्वापरयुग और छठे मन्वन्तर में भी विद्यमान थी। तथा २. कसायपाहुड, षट्खण्डागम, भगवती-आराधना, मूलाचार, तत्त्वार्थसूत्र, सन्मतिसूत्र आदि ग्रन्थ न तो यापनीय-आचार्यों की कृतियाँ हैं, न श्वेताम्बराचार्यों की और न ही कपोलकल्पित उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा के आचार्यों की, वे दिगम्बर-जैनाचार्यों की लेखनी से प्रसूत हुए हैं। और ३. आचार्य कुन्दकुन्द ने इस भारतभू को ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर ईसोत्तर प्रथम शताब्दी के पूर्वार्ध तक अपने अस्तित्व से धन्य किया था।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

संकेताक्षर-विवरण

अ.--- / प्र.---	अध्याय क्रमांक / प्रकरण क्रमांक।
अ.---/ प्र.---/ शी. ---	अध्याय क्रमांक / प्रकरण क्रमांक / शीर्षक क्रमांक।
अनु.	अनुच्छेद (पैराग्राफ)।
अभि. रा. को. /---/---	अभिधान राजेन्द्र कोष / भाग क्रमांक / पृष्ठ क्रमांक।
आ. ख्या.	आत्मख्याति व्याख्या।
आचारांग / ---/ ---/---/---	श्रुतस्कन्ध क्रमांक / अध्ययन क्रमांक / उद्देशक क्रमांक / सूत्र क्रमांक।
आव. चू. / उपो. निर्यु. / आव. सू. / पू. भा.	आवश्यकचूर्णि / उपोद्घातनिर्युक्ति / आवश्यकसूत्र / पूर्वभाग।
आव. निर्युक्ति	आवश्यकनिर्युक्ति
आ. वृ. / मूला.	आचारवृत्ति / मूलाचार।
आदि पु. / ---/---	आदिपुराण / पर्व क्रमांक / श्लोक क्रमांक।
आतुरप्रत्या.	आतुरप्रत्याख्यान।
आ. मी.	आप्तमीमांसा।
आव. सू. /---/---	आवश्यकसूत्र / आवश्यक क्रमांक / सूत्र क्रमांक।
इ. न. श्रुता.	इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार।
इण्डि. ऐण्टि.	दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी।
इष्टो.	इष्टोपदेश ।
ईशाद्यष्टो.	ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद्।
उत्त. सू. /---/---	उत्तराध्ययनसूत्र / अध्ययन क्रमांक / गाथा क्रमांक।
ऋग्वेद /---/---/---	मंडल क्रमांक / सूक्त क्रमांक / ऋचा-क्रमांक।

क. पा.	कसायपाहुड।
कै. च. शास्त्री	सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री।
क्र.	क्रमांक।
गुण. सिद्धा. : एक वि.	गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण।
गो. क.	गोम्मटसार - कर्मकाण्ड।
गो. जी.	गोम्मटसार - जीवकाण्ड।
चा. पा.	चारित्तपाहुड।
छान्दोग्योपनिषद् /---/---/---	अध्याय क्र. / खण्ड क्र. / वाक्य क्र.।
ज. ध. / क.पा. /भा---	जयधवलाटीका / कसायपाहुड / भाग क्रमांक।
ज. ध. / क. पा. / भा. ---/ गा.---/ अनु. ---/ पृ. ---	जयधवला / कसायपाहुड / भाग क्रमांक / गाथा क्र./ अनुच्छेद क्रमांक / पृष्ठ क्रमांक।
जाबालो.	जाबालोपनिषद्।
जी. त. प्र. / गो. क.	जीवतत्त्वप्रदीपिकावृत्ति / गोम्मटसार-कर्मकाण्ड।
जी. त. प्र. / गो. जी.	जीवतत्त्वप्रदीपिकावृत्ति / गोम्मटसार-जीवकाण्ड।
जै. आ. सा. म. मी.	जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा।
जै. ध. मौ. इ.	जैनधर्म का मौलिक इतिहास।
जै. ध. या. स.	जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय।
जै. शि. सं. / मा. च.	जैन-शिलालेख-संग्रह / माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, मुंबई।
जै. शि. सं. / भा. ज्ञा.	जैन-शिलालेख-संग्रह / भारतीय ज्ञानपीठ।
जै. स. या. सं. प्र.	''जैन सम्प्रदाय के यापनीयसंघ पर कुछ और प्रकाश'' (लेख)।
जै. सं. सं. सं. शोलापुर	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर।
जै. सा. इ.	जैन साहित्य और इतिहास।
जै. सा. इ.—प्रेमी	जैन साहित्य और इतिहास—पं० नाथूराम प्रेमी।

जै. सा. इ. (कै. च. शास्त्री)	जैनसाहित्य का इतिहास (सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाश चन्द्र शास्त्री)।
जै. सा. इ. / पू. पी.	जैन साहित्य का इतिहास / पूर्वपीठिका।
जै. सा. इ. वि. प्र. / खं.१	जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश / प्रथमखंड।
जै. सि. को. /---/---	जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश / भाग क्रमांक / पृष्ठ क्रमांक।
जै. सा. बृ. इ. / ---	जैन साहित्य का बृहद् इतिहास / भाग क्रमांक।
जै. सि. भा. / भा. ---/ कि. ---	जैन सिद्धान्त भास्कर / भाग क्रमांक / किरण क्रमांक।
डॉ. सा. म. जै. अभि. ग्र.	डॉ० सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ।
त. नि. प्रा.	तत्त्वनिर्णयप्रासाद।
त. दी.	तत्त्वदीपिकावृत्ति।
तत्त्वा. भाष्य.	तत्त्वार्थाधिगमभाष्य।
त. भाष्यवृत्ति	तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति।
त. र. दी./ षड्. समु. /---/---	तर्करहस्यदीपिका (गुणरत्नकृत टीका) / षड्दर्शन-समुच्चय / अधिकार-क्रमांक / पृष्ठक्रमांक।
त. रा. वा. /---/--- /---	तत्त्वार्थराजवार्तिक / अध्याय क्रमांक / सूत्र क्रमांक / वार्तिक क्रमांक
त. सू. ---/---	तत्त्वार्थसूत्र / अध्याय क्रमांक / सूत्र क्रमांक।
तत्त्वार्थ	तत्त्वार्थसूत्र।
त. सू. / वि. स.	तत्त्वार्थसूत्र / विवेचनसहित।
त. सू. जै. स.	तत्त्वार्थसूत्र-जैनागमसमन्वय।
ता. वृ.	तात्पर्यवृत्ति।
ति. प. /---/---	तिलोयपण्णत्ती / महाधिकार क्रमांक / गाथा क्रमांक।
ती. म. आ. प./---	तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा / खण्ड क्रमांक।
दं. पा.	दंसणपाहुड।

द्र. सं.	द्रव्यसंग्रह।
द्वि. सं.	द्वितीय संस्करण।
दश. वै. सू.	दशवैकालिकसूत्र।
दि.	दिगम्बर।
धम्मपद-अट्ठकथा / भा.---/---/---	धम्मपद-अट्ठकथा / भाग क्र. / वग्ग क्र. / कथा क्र.
धवला / ष. खं./ पु.---	धवलाटीका / षट्खण्डागम / पुस्तक क्रमांक।
नि. सा.	नियमसार।
न्यायदीपिका /---/---	प्रकाश क्रमांक / अनुच्छेद क्रमांक।
न्या. वा. वृ.	न्यायावतारवार्तिकवृत्ति।
प. च. / ---/---/---/---	पउमचरिउ / भाग क्र. / सन्धि क्र. / दोहासमूह क्र./ दोहा क्रमांक।
प. पु./---/---	पद्मपुराण (पद्मचरित)/ भाग क्र. / पर्व क्र./ श्लोक क्र.।
पद्ममहापुराण /---/---/---/---	भाग क्रमांक / खण्ड क्रमांक (भूमिखण्ड) / अध्याय क्रमांक / श्लोक क्रमांक।
प. प्र./---/---	परमात्मप्रकाश / महाधिकार क्रमांक / दोहा क्रमांक।
परमा. प्र.	परमात्मप्रकाश।
पं. का.	पञ्चास्तिकाय।
पं. र. च. जै. मुख्तार : व्यक्ति. कृति.	पण्डित रतनचन्द्र जैन मुख्तार : व्यक्तित्व एवं कृतित्व।
परि. पर्व	परिशिष्टपर्व।
पा. टि.	पादटिप्पणी।
पुरा. जै. वा. सू.	पुरातन-जैन-वाक्य-सूची।
पु.	पुस्तक।
पृ.	पृष्ठक्रमांक।
प्र. सं.	प्रथम संस्करण।
प्रव. परी. /---/---/---	प्रवचनपरीक्षा / भाग क्रमांक (पूर्व या उत्तर)/ विश्राम क्रमांक / गाथा क्रमांक।

संकेताक्षर-विवरण

प्र. सा. /---/---	प्रवचनसार / अधिकार क्रमांक / गाथा क्रमांक।
प्रस्ता.	प्रस्तावना।
प्रा. सा. इ.	प्राकृत साहित्य का इतिहास।
बा. अ.	बारस अणुवेक्खा।
बा. अणु.	बारस अणुवेक्खा।
बृ. क. को.	बृहत्कथाकोश।
बृहत्कल्पसूत्र /---/---	उद्देशक्रमांक / सूत्रक्रमांक।
बृ. कल्प. / लघुभाष्यवृत्ति /---/---	बृहत्कल्पसूत्र / लघुभाष्यवृत्ति / उद्देशक्रमांक / गाथा-क्रमांक।
बृहदारण्यकोपनिषद् /---/---/---	अध्याय क्रमांक / ब्राह्मण क्रमांक / वाक्य क्रमांक।
बो. पा.	बोधपाहुड।
ब्रह्मसूत्र /---/---/---	अध्याय क्रमांक / पाद क्रमांक / सूत्र क्रमांक।
भ. आ.	भगवती-आराधना।
भट्टा. सम्प्र.	भट्टारकसम्प्रदाय।
भ. बा. च. /---/---	भद्रबाहुचरित / परिच्छेद क्रमांक / श्लोक क्रमांक।
भ. बा. क.	भद्रबाहुकथानक।
भा.	भाग।
भा. ज्ञा.	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन दिल्ली / वाराणसी।
भा. पु. /---/---/---	भागवतपुराण / स्कन्ध क्रमांक / अध्याय क्रमांक / श्लोक क्रमांक या गद्यखण्ड क्रमांक।
भा. पा.	भावपाहुड।
भा. इ. ए. दृ.	भारतीय इतिहास : एक दृष्टि (डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन)।
भा. सं. जै. ध. यो. दा.	भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान।
महापुराण /---/---	सर्ग क्रमांक / श्लोक क्रमांक।

महाभारत /---/---/---	पर्व क्रमांक / अध्याय क्रमांक / श्लोक क्रमांक।
मा. च.	माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई।
मूला.	मूलाचार।
मूला. / पू.	मूलाचार / पूर्वार्ध।
मूला. / उत्त.	मूलाचार / उत्तरार्ध।
मो. पा.	मोक्खपाहुड।
या. औ. उ. सा.	यापनीय और उनका साहित्य।
यु. अनु.	युक्त्यनुशासन।
यो. सा.	योगसार
र. क. श्रा.	रत्नकरण्डश्रावकाचार।
लिं. पा.	लिंगपाहुड।
वरांगचरित /---/---	सर्ग क्रमांक / श्लोक क्रमांक।
वायुपुराण /---/---	अध्याय क्रमांक / श्लोक क्रमांक।
वि. टी. / भ. आ.	विजयोदयाटीका / भगवती-आराधना।
विशे. भा.	विशेषावश्यकभाष्य।
विष्णुपुराण /---/---/---	अंश क्र. / अध्याय क्र. / श्लोक क्र.।
व्या. प्र. /---/---/---	व्याख्याप्रज्ञप्ति / शतक क्रमांक / उद्देशक क्रमांक / प्रश्नोत्तर क्रमांक
शो. प्र.	शोलापुर प्रकाशन।
श्र. भ. म.	श्रमण भगवान् महावीर।
श्वे.	श्वेताम्बर।
ष. ख. /---/---,---,---	षट्खण्डागम / पुस्तक क्रमांक / खण्ड क्रमांक, भाग क्रमांक, सूत्र क्रमांक।
षट्. परि.	षट्खण्डागम-परिशीलन।
स. सा. /---	समयसार / गाथा क्रमांक।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

संकेताक्षर-विवरण

समवायांग /---/---	समवाय क्रमांक / सूत्र क्रमांक।
स. तन्त्र	समाधितन्त्र (समाधिशतक)।
सं. सा. इ.— ब. दे. उ.	संस्कृत साहित्य का इतिहास – बलदेव उपाध्याय।
स. सि. /---/---/---	सर्वार्थसिद्धि / अध्याय क्रमांक / सूत्र क्रमांक / अनुच्छेद क्रमांक।
सा. ध.	सागारधर्मामृत।
सुत्त. पा.	सुत्तपाहुड।
सूत्रकृतांग /---/---/---	श्रुतस्कन्ध क्रमांक/अध्ययन क्रमांक/उद्देशक क्रमांक।
स्त्रीनिर्वाण प्र.	स्त्रीनिर्वाणप्रकरण।
स्था. सू./---/---/---	स्थानांगसूत्र/स्थान क्रमांक/उद्देशक्रमांक/सूत्र क्रमांक।
स्था. सू./---/---	स्थानांगसूत्र / स्थान क्रमांक / सूत्र क्रमांक ।
स्व. स्तो.	स्वयम्भूस्तोत्र।
स्वा. स. भ.	स्वामी समन्तभद्र।
ह. पु. (हरि. पु.)/---/---	हरिवंशपुराण / सर्गक्रमांक / श्लोकक्रमांक।
हारि. वृत्ति	हारिभद्रीय वृत्ति।
हेम. वृत्ति / विशे. भा.	मलधारी हेमचन्द्रसूरिकृत वृत्ति / विशेषावश्यक-भाष्य।
Asp. of Jaino.	Aspects of Jainology.
F. N.	Foot Note.